कविकोकिल विद्यापति-कृत

गोरक्षविजय

सम्पादक

डॉ० हरिमोहन मिश्र

अध्यक्ष, स्नातकोत्तर संस्कृत-विभाग
भागलपुर-विश्वविद्यालय, भागलपुर

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्

पटना

प्रकाशक :
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
आचार्य शिवपूजन सहाय मार्ग
पटना-८०० ००४

प्रथम संस्करण :
विक्रमाब्द २०४१; शकाब्द १९०६; खृष्टाब्द १९८४

मूल्य : [redacted] 35/—

मुद्रक :
श्रीकृष्णचन्द्र बिश्नोई
रोहित प्रिंण्टिंग वर्क्स
लंगरटोली, पटना-८०००४

वक्तव्य

विश्वकवि विद्यापति की ग्रन्थावली के प्रकाशन-क्रम में उनके उपलब्ध प्रामाणिक नाटक 'गोरक्षविजय' का सम्पादित संस्करण प्रस्तुत करते हुए हमें प्रभूत प्रसन्नता हो रही है। कलेवर की लघुता से इस नाटक की महत्ता खण्डित नहीं होती। इसके महत्त्व के अनुरूप सम्पादन एवं भूमिका-लेखन आवश्यक था। अतः, परिषद् ने यह भार विद्वद्वर **डॉ० हरिमोहन मिश्र** को सौंपा था। हमें हर्ष है कि डॉ० मिश्र ने इस दायित्व का निर्वाह गरिमापूर्ण वैदुष्य के साथ किया है। इस विद्या-श्रमसाध्य कार्य के लिए उनके प्रति हम अपनी ओर से तथा परिषद् की ओर से भी हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं।

इस नाटक का कलेवर विस्तृत नहीं है, किन्तु इसका उद्देश्य सर्वथा महत्त्वपूर्ण है। साधना तथा चरित्र के द्वारा शिष्य गुरूत्तर हो सकता है, यह गुरु मत्स्येन्द्रनाथ एवं शिष्य गोरक्षनाथ (गोरखनाथ) के प्रसंग में प्रदर्शित है। इसमें भोग पर योग की महत्ता एवं विजय भी प्रत्यक्ष है। मध्ययुग के प्रारम्भिक एकांकी नाटक के रूप में इस कृति का ऐतिहासिक वैशिष्ट्य तो है ही, त्रिभाषा-त्रिवेणी की दृष्टि से भी इसका सातिशय महत्त्व है; क्योंकि इसमें संस्कृत, प्राकृत एवं क्षेत्रीय भाषा का त्रिवेणी-संगम है।

परिषद् द्वारा विद्यापति-ग्रन्थावली-प्रकाशन की योजना में यह पंचम प्रकाशन है, जिसे सुधी पाठकों के समक्ष हम सोल्लास समुपस्थापित कर रहे हैं। हमें एतदर्थ विशेष हर्ष है कि अल्प मासान्तर में ही विद्यापति की 'कीर्त्तिलता' एवं 'गोरक्षविजय' का प्रकाशन परिषद् सम्भव कर सकी। हम सचेष्ट हैं कि विद्यापति-ग्रन्थावली के अवशिष्ट ग्रन्थों का प्रकाशन भी त्वरित गति से कर सकें और इसके लिए हम उनके विद्वान् सम्पादक महोदयों से पुनः-पुनः अनुरोध कर रहे हैं। हम विद्याव्यसनी पाठक-समुदाय की शुभाशंसाओं के आकांक्षी हैं।

(पं०) रामदयाल पाण्डेय
उपाध्यक्ष-सह-निदेशक

गंगा-दशहरा, सं० २०४१ वि०
दिनांक ८ जून, १९८४ ई०

प्राक्कथन

विद्यापति-स्मारक अनुसन्धान-विभाग के माध्यम से महाकवि विद्यापति की संस्कृत-अवहट्ठ-कृतियों की प्रकाशन-परम्परा में अबतक 'कीर्त्तिलता' का प्रकाशन सम्पन्न हुआ है। 'कीर्त्तिलता' के बाद 'गोरक्षविजय' का यह सुसम्पादित संस्करण सुधी पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है।

विद्यापति की सर्जनात्मक पुस्तकाकार कृतियों की शृंखला में 'गोरक्षविजय' ही एकमात्र उपलब्ध नाट्य-कृति है, इस मान्यता में भले ही दो मत हो सकते हैं, किन्तु इसकी उपलब्ध प्रकाशन-सामग्री के पर्यालोचन से इतना निश्चय ही स्पष्ट हो जाता है कि विद्यापति की प्रारम्भिक रचना होने के साथ-साथ यह उनकी सर्वाधिक निर्विवाद एवं प्रामाणिक नाट्य-रचना है। संस्कृत-मैथिली-नाटकों में इसे सबसे प्राचीन होने का श्रेय प्रदान करते हुए 'गोरक्षविजय' के प्रस्तुत संस्करण के विद्वान् सम्पादक ने इसे 'कीर्त्तनियाँ'-नाट्य-परम्परा से पृथक् माना है। और, इस दृष्टि से भी प्रस्तुत नाट्य-रचना का ऐतिहासिक महत्त्व प्रतिपादित हो जाता है।

रंगमंच एवं नाट्य-रचना के प्रति महाकवि विद्यापति के अनुराग के कई प्रमाण मिलते हैं। उनके ललित पदों को रंगमंच पर प्रस्तुत करने की दृष्टि से ही उनके आश्रयदाता मित्र 'नटनाथ' महाराज शिवसिंह ने 'जयत' नर्त्तक एवं 'केटी' गायिकाओं की नियुक्तियाँ अपने दरबार में की थीं, यह सर्वविदित है।

यह सत्य है कि डॉ० जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन (देखिए, हिन्दी-साहित्य का प्रथम इतिहास, पृ० २९५ एवं लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव इण्डिया, खण्ड ५, भाग २, पृ० १७) तथा बाबू श्यामनारायण सिंह (देखिए, हिस्ट्री ऑव तिरहुत, पृ० २०२) जैसे विद्वान्, विद्यापति के नाम पर जिन नाट्य-कृतियों की चर्चा करते रहे, वे वस्तुतः विद्यापति द्वारा रचित नहीं हैं और उन विद्वानों की धारणा अब नितान्त भ्रामक सिद्ध हो गई है। फिर भी, यह मान लेना कदाचित् भ्रमपूर्ण होगा कि महाकवि ने अन्य नाटकों की रचना नहीं की है।

आज से ठीक सत्ताईस वर्ष पूर्व, सन् १९५७ ई० में, जब विद्यापति-साहित्यानुसन्धान के क्रम में, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् की ओर से मैं पश्चिम-बंगाल की यात्रा कर रहा था, तब कलकत्ता-विश्वविद्यालय के भाषाविज्ञान-विभाग के तत्कालीन अध्यक्ष, विद्यापति-साहित्य के मर्मज्ञ, खैरा-प्रोफेसर डॉ० सुकुमार सेन ने मुझे पदावली-कर्त्ता विद्यापति के नाम पर प्रचलित एक और नाट्य-कृति 'गोपीचन्द-नाटक' के विषय

में सूचना दी थी। डॉ० सेन ने उस समय मुझे बतलाया था कि सन् १९४८ ई० में काठमाण्डू की दरबार-लाइब्रेरी के क्यूरेटर **श्रीशिवनारायण सेन** ने उन्हें मिथिलाक्षर में लिखित उक्त नाटक का एक प्राचीन हस्तलेख भी दिखलाया था। लेकिन, जबतक उक्त हस्तलेख की समुचित परीक्षा नहीं हो जाती, तबतक उसके विषय में कुछ निश्चित मत देना न्यायसंगत नहीं होगा। डॉ० सेन की यह भी मान्यता रही है कि विद्यापति ने एक प्रहसन अथवा कृष्णलीला-विषयक नाटिका की रचना भी अवश्य की होगी। **श्रीनगेन्द्रनाथ गुप्त** द्वारा संकलित 'विद्यापति-पदावली' के एक पद (नाना प्रकार १५ : 'हम धनि कूटनि परिनत नारि') के विषय में उनका कथन है कि वह पद उसी प्रहसन का है। इसी प्रकार, लोचन-कृत 'रागतरंगिणी' (पृ० ८९-९०) में उद्धृत एक पद ('विदितादेवी विदिता हो अविरल केस सोहन्ती') के विषय में भी उनका अनुमान है कि वह भी विद्यापति की किसी नाट्य-रचना का ही हो सकता है। (देखिए, विद्यापति-गोष्ठी, बँ० सं०, पृ० ४१-४२)।

स्व० पं० शिवनन्दन ठाकुर ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'महाकवि विद्यापति' (पृ० ४८-४९) में यह सर्वप्रथम सूचना दी कि पदकर्त्ता महाकवि विद्यापति ने 'मणिमंजरी' नामक एक संस्कृत-नाटिका की भी रचना की थी। राजा चन्द्रसेन एवं मणिमंजरी की कथा से युक्त, विशुद्ध संस्कृत-भाषा में लिखित इस नाटिका का एक प्राचीन हस्तलेख महेशपुर (दरभंगा) के **पं० किशोर झा** से, मैलाम (भटसेमर, दरभंगा) के **पं० चन्द्रानन्द ठाकुर** को प्राप्त हुआ था। इसका एक अन्य प्राचीन हस्तलेख, जो पिण्डारुछ (दरभंगा) के **पं० आनन्द झा** के पास था, वह इन दिनों सम्भवतः पटना के जायसवाल रिसर्च इन्स्टीच्यूट में सुरक्षित है। सं० १६६३ शाके का लिखा इसका एक प्राचीन हस्तलेख पटना-विश्वविद्यालय में भी था, जो विद्यापति के प्रेमी पण्डितों की कृपा से कुछ दिन पूर्व कहीं खो गया! सौभाग्यवश, सन् १९६६ ई० में 'मैथिली डेवलपमेण्ट-फण्ड' के लिए पटना-विश्वविद्यालय की ओर से दरभंगा-ग्रन्थमाला के चतुर्थ पुष्प के रूप में, **पं० रमानाथ झा** द्वारा सम्पादित इसका एक संस्करण प्रकाशित हो चुका है। यों, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् की ओर से भी, **डॉ० चन्द्रधर झा** के सम्पादन में इसके प्रकाशन की योजना है।

'मणिमंजरी' के जो भी प्रकाशित-अप्रकाशित हस्तलेख देखने को मिले हैं, उन सबकी 'प्रस्तावना' एवं उनके 'भरत-वाक्यों' में, कृतिकार के रूप में स्पष्ट ही विद्यापति का नामोल्लेख है। केवल ओइनवारवंशीय किसी आश्रयदाता राजा अथवा रानी के नामोल्लेख के अभाव में, इसकी प्रामाणिकता को सन्देह की दृष्टि से देखना कथमपि न्यायोचित नहीं है।

इन सारी बातों के बावजूद, जैसाकि ऊपर निवेदन किया जा चुका है, इस बात में सन्देह नहीं कि महाराज शिवसिंह 'रूपनारायण' के आदेश से भैरव-पूजा के अवसर पर लिखित 'गोरक्षविजय' महाकवि विद्यापति का सर्वाधिक निर्विवाद एवं प्रामाणिक नाटक है। प्राचीन मैथिली-लिपि में, तालपत्र पर ल० सं० ४९५ (सन् १६१४ ई०) का, मुरारि-

कण्ठात्मज 'भगीरथ' द्वारा लिखित इसका एकमात्र प्राचीन हस्तलेख काठमाण्डू की दरबार-लाइब्रेरी में सुरक्षित है। प्रस्तुत संस्करण के विद्वान् सम्पादक की मान्यता है कि 'गोरक्षविजय' का यह प्राचीन हस्तलेख 'लेखक' का नहीं, अपितु 'प्रयोक्ता' का है। और, अपनी इस मान्यता के समर्थन में उन्होंने कई प्रमाण भी प्रस्तुत किये हैं।

'गोरक्षविजय' का मूल विषय है, 'भोग' पर गोरक्षनाथ (गोरखनाथ) के माध्यम से, 'योग' की विजय। इसका प्रकाशन सर्वप्रथम काठमाण्डू से, चोतरिया फत्यजंग पराक्रमशाह के सम्पादन में प्रकाशित विविधविषय-विभूषित इतिहास-प्रधान मासिक संस्कृत-पत्रिका 'संस्कृत-सन्देश' के प्रथम अंक में हुआ था। उस प्रकाशित संस्करण की प्रतिलिपि बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के तत्कालीन संचालक **स्व० आचार्य शिवपूजन सहायजी** के विशेषानुरोध पर, नेपाल के तत्कालीन शिक्षामन्त्री **पं० बालचन्द्र शर्मा** ने सन् १९५५ ई० के सितम्बर मास में परिषद् में भेज दी थी। उसे आचार्यजी के निकट मैंने स्वयं देखा था। दुर्भाग्यवश, वह प्रतिलिपि आज परिषद् में उपलब्ध नहीं है!

विद्यापति की इस नाट्यकृति को सर्वप्रथम पुस्तकाकार प्रकाशित करने का श्रेय **म० म० डॉ० उमेश मिश्र** एवं उनके पुत्र **डॉ० जयकान्त मिश्र** को है, जिन्होंने अखिलभारतीय मैथिली-साहित्य-समिति, तीरभुक्ति, इलाहाबाद-२ की ओर से, मूल के फोटोस्टाट-ब्लॉक के साथ सन् १९६१ ई० में इसे प्रकाशित किया। 'गोरक्षविजय' की यह फोटोस्टाट-प्रति उन्हें नेपाल-नरेश की कृपा से, सन् १९४१ ई० में प्राप्त हुई थी।

प्राच्यभारती के अधीती विद्वान्, इस संस्करण के सुधी सम्पादक **डॉ० हरिमोहन मिश्र** ने 'गोरक्षविजय' के प्रस्तुत संस्करण के आरम्भिक ३३ पृष्ठों की विद्वत्तापूर्ण 'भूमिका' में, संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश की नाट्य-परम्परा के अन्तर्गत लोकभाषानिबद्ध गीतों के प्रयोग आदि के परिप्रेक्ष्य में, मिथिला की कीर्त्तनियाँ नाट्य-परम्परा के उद्भव पर विचार करते हुए, अपनी विशिष्ट मान्यताएँ स्थापित की हैं और विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत उन्होंने इस नाटक के विविध पक्षों पर अत्यन्त आधिकारिक विवेचन प्रस्तुत किया है। इस संस्करण के पाठ-निर्धारण के लिए, डॉ० मिश्र ने **डॉ० प्रतापनारायण झा** द्वारा सुझाये गये और **डॉ० उमेश मिश्र** एवं **डॉ० जयकान्त मिश्र** द्वारा प्रकाशित पाठों के अतिरिक्त नेपाल से प्रकाशित 'संस्कृत-सन्देश' पत्रिका के प्रथम अंक में छपे हस्तलेख के पाठों से भी सहायता ली है। अपने पाठ-निर्धारण में उन्होंने निश्चय ही पर्याप्त सतर्कता से काम लिया है और सम्पादकीय अभिमत के साथ तीनों पाठभेद, पाद-टिप्पणियों के रूप में दे दिये हैं। मूल पाठ के साथ-साथ प्रस्तुत नाटक की सुबोध हिन्दी-टीका तो उन्होंने दी ही है, परिशिष्ट 'क' के रूप में 'गोरक्षविजय' की तथाकथित 'नान्दी' को भी पाद-टिप्पणियों के पाठान्तरों-सहित प्रस्तुत कर दिया है। परिशिष्ट 'ख' के अन्तर्गत उन्होंने 'गोरक्षविजय' में प्रयुक्त कतिपय विशिष्ट शब्द भी व्याख्या-सहित दे दिये हैं। इन सारी कार्य-व्यवस्थाओं से उन्होंने इस संस्करण का महत्त्व, निश्चय ही, द्विगुणित कर दिया है।

हमारा विश्वास है कि सुधी पाठक विद्यापति से सम्बद्ध परिषद् द्वारा प्रकाशित अन्य कृतियों की तरह 'गोरक्षविजय' के इस परिमार्जित एवं वैदुष्य-मण्डित संस्करण का भी सर्वान्त:करण से स्वागत करेंगे।

(डॉ०) बजरंग वर्मा
प्रभारी, विद्यापति-स्मारक अनुसन्धान-विभाग

विषय-क्रम

संकेत-सूची

प्रति 'क' : 'गोरक्षविजय' की यह खण्डित प्रति है। यह प्रथम बार नेपाल की 'संस्कृत-सन्देश' नामक पत्रिका में प्रकाशित हुई थी।

प्रति 'ख' : डॉ० जयकान्त मिश्र द्वारा हस्तलिपि की फोटो-स्टाट-कॉपी के साथ प्रकाशित 'गोरक्षविजय' की प्रति।

प्र० ना० झा : प्रतापनारायण झा।

भूमिका

विद्यापति की सर्जनात्मक कृतियों में एकमात्र उपलब्ध नाटक होने के कारण गोरक्ष-विजय अपना विशेष ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। इसमें संस्कृत और प्राकृत के अंश संस्कृत-नाटकों के सदृश ही हैं, किन्तु गीत मैथिली में हैं। हस्तलिपि के पृ० १ (ख) में जो दो मंगलश्लोक उपलब्ध हैं, उन्हें गोरक्षविजय की नान्दी के रूप में स्वीकार करना संगत नहीं है।[१] सम्पूर्ण ग्रन्थ में संस्कृत-श्लोकों की संख्या नान्दी के अतिरिक्त दस है, जिनमें एक भरतवाक्य है। नाटक के मैथिली-गीतों की संख्या २६ है। नाटकीय महत्त्व भी इन गीतों का ही है; क्योंकि ये ही नाटक की घटना को आगे बढ़ाते हैं। संस्कृत-नाटकों के इतिहास में निस्सन्देह यह एक नई घटना है और इसके उद्भव की खोज आवश्यक है।

संस्कृत-नाटकों में भी संस्कृत में गीत नहीं मिलते। राग-ताल-बद्ध गीत लिखने की परम्परा ही संस्कृत में जयदेव से शुरू होती है। संस्कृत-नाटकों में, प्रस्तावनाओं में, प्राकृतभाषा में, गीत मिलते हैं। भास के नाटकों में ऐसे गीत नहीं हैं। कालिदास के नाटकों में ही प्रथम बार ऐसे गीत मिलते हैं। **अभिज्ञानशाकुन्तलम्** की प्रस्तावना में नटी प्राकृत में एक गीत गाती है। वहाँ 'गीत' शब्द ही प्रयुक्त हुआ है और यह भी संकेत मिलता है कि वह राग-विशेष में गाया गया है।[२] इसी प्रकार, पंचम अंक में प्राकृत भाषा में गाये गये गीत के लिए 'गीति' शब्द प्रयुक्त हुआ है।[३] **मालविकाग्निमित्र** में इसी अर्थ में 'संगीतक' शब्द का प्रयोग किया गया है[४], यद्यपि संगीतक वहाँ दिया नहीं गया है।

---

१. द्र० परिशिष्ट।

२. (क) "अहो रागनिविष्टचित्तवृत्तिरालिखित इव सर्वतो रङ्गः।"

(ख) "तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः।
एष राजेव दुष्यन्तः सारङ्गेणातिरंहसा॥"

(**अभिज्ञानशाकुन्तलम्**, प्र० श्लोक ५)

इस श्लोक के 'सारंग' शब्द का दूसरा अर्थ सारंग राग भी किया जाता है।

३. **अभिज्ञानशाकुन्तलम्**, ५।१।

इस प्रसंग में मेघदूत की निम्नलिखित पंक्ति बड़े ही महत्त्व की है:
"मद्गोत्राङ्कं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा।" (**उत्तरमेघ**, श्लोक २६)
इससे यह संकेत मिलता है कि उस समय भी ऐसे गीत रचे जाते थे, जिनमें रचयिताओं के नाम भी रहते थे। सम्भव है, ऐसे पद प्राकृत-भाषा में ही रचे जाते हों, यद्यपि वे आज उपलब्ध नहीं हैं।

४. **मालविकाग्निमित्रम्**, प्र० १ और १।२०।

मृच्छकटिक की प्रस्तावना में भी उक्त अर्थ में ही 'संगीतक' शब्द का प्रयोग हुआ है[१], किन्तु वहाँ भी संगीतक दिया नहीं गया है ।

व्युत्पत्ति के आधार पर संगीत अथवा संगीतक के दो अर्थ हो सकते हैं : १. नृत्य अथवा वाद्य (नृत्य और वाद्य भी) के साथ गीत और २. सम्मिलित गीत । प्रस्तुत प्रसंग में प्रथम अर्थ ही अभिप्रेत है । संगीतक का स्वतन्त्र कृति के रूप में उल्लेख और उसके प्रयोग की चर्चा चतुर्भाणी में हुई है । वहाँ दो संगीतक के नाम आये हैं : १. मदनाराधन और २. पुरन्दरविजय ।[२] ये दोनों ही आज अनुपलब्ध हैं । दोनों के लिए 'यथारस अभिनेय' शब्द के प्रयोग से और संगीतक नाम से यह माना जा सकता है कि ये गीति-नाट्य रहे होंगे। यह भी सम्भव है कि ये प्राकृत में रहे हों । ज्योतिरीश्वर के धूर्त्तसमागम की प्रस्तावना में भी 'संगीतक' शब्द आया है ।[३] वहाँ संगीतक के रूप में प्राकृत भाषा में विरचित गीत भी है, जो नटी द्वारा गाया गया है । इस प्रकार, यहाँ संगीतक का अर्थ वाद्य के साथ गाया जानेवाला गीत ही है । विद्यापति के गोरक्षविजय की प्रस्तावना में भी संगीतक शब्द आया है ।[४] यहाँ संगीतक का अर्थ नृत्य और वाद्य के साथ गाया जानेवाला गीत है । यह उल्लेखनीय है कि नटी के द्वारा गाया गया गीत यहाँ मैथिली में है । **श्रीजगदीशचन्द्र माथुर** ने गोरक्षविजय के उक्त 'संगीतक' शब्द को प्रदर्शन-विधा के लिए प्रयुक्त माना है ।[५] यह तथ्य नहीं है । उसे तो स्वयं रचयिता ने ही 'गोरक्षविजय नाम का नाटक' कहा है ।[६]

इस प्रकार, प्राकृत और बाद में अपभ्रंश में ही गीत रचे जाने के प्रमाण मिलते हैं, संस्कृत में नहीं । **विक्रमोर्वशीयम्** के चतुर्थ अंक में अपभ्रंश भाषा के सोलह गेय पद हैं, जो विभिन्न छन्दों में रचे गये हैं, यद्यपि द्विपदी और चर्चरी का अधिक प्रयोग हुआ है । यह उल्लेखनीय है कि दक्षिण-भारत के संस्करण में अपभ्रंश के उक्त पद नहीं हैं । ये पद अवश्य ही नृत्य के हाव-भाव के साथ गाये जाते होंगे । इन पदों की उपयोगिता गीत-नृत्य तक ही सीमित है और अपने-आप में ये पृथक् रचना के रूप में ही प्रतीत होते हैं । **कीथ** ने इन्हें Libereto कहा है और प्रक्षिप्त माना है ।[७] श्रीजगदीशचन्द्र माथुर ने भी इन्हें नाट्य-

---

१. **मृच्छकटिकम्**, आमुख ८ ।

२. "भगवतो नारायणस्य भवने मदनसेनया मदनाराधने सङ्गीतके यथारसमभिनीयमाने ।" "भगवतोऽप्रतिहतशासनस्य कुसुमपुरपुरन्दरस्य भवने पुरन्दरविजयं नाम सङ्गीतकं यथारसाभिनयमभिनेतव्यमिति ।"

—**उभयाभिसारिका**, ३।८ और २८।७; **चतुर्भाणी**, पृ० १२३ और १४१ ।

३. **धूर्त्तसमागम**, प्रस्तावना ६ ।

४. **गोरक्षविजय**, गीत १ के बाद ।

५. **प्राचीन भाषानाटक**, पृ० ६ ।

६. **गोरक्षविजय**, गीत १ के बाद ।

७. A.B. Keith ; **Sanskrit Drama**, p. 275.

शिल्प की दृष्टि से प्रक्षिप्त माना है[1] और यह मत संगत प्रतीत होता है। गीति-नृत्य-परक ये पद विक्रमोर्वशीयम् में दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी के आसपास मिलाये गये होंगे।

कतिपय गवेषक प्राकृत-अपभ्रंश-अवहट्ठ की साहित्य-संगीत-परम्परा में **गीतगोविन्द** का उद्भव खोजते हैं। **पिशल** ने इस परम्परा की ओर संकेत किया है।[2] गीतगोविन्द के गीतों के मात्रिक छन्द अपभ्रंश के छन्दों से मिलते हैं। प्राकृत-पैङ्गलम् आदि ग्रन्थों में संगृहीत अपभ्रंश और अवहट्ठ के उदाहरणों से रचना-साम्य भी यत्र-तत्र दिखलाया जाता है। गीतगोविन्द के एकाध गीत ऐसे अवश्य हैं, जहाँ संस्कृत-भाषा मात्रिक छन्द के साँचे में अपने को ठीक से ढाल नहीं सकी है। एक गीत उद्धृत किया जा रहा है :

'श्रितकमलाकुचमण्डलधृतकुण्डलकलितललितवनमाल जय जय देव हरे।'

२९ मात्राओं के इस छन्द में १२+६+११ के खण्ड हैं, किन्तु इसी गीत की अन्तिम पंक्ति में १२वीं मात्रा के बदले १३वीं मात्रा पर और छठी के बदले सातवीं मात्रा पर यति है। जैसे :

श्रीजयदेवकवेरिदं कुरुते मुदं मङ्गलमुज्ज्वलगीतिः।

यहाँ 'इदं' और 'मुदं' के अनुस्वार को यदि अपभ्रंश की ध्वनि-प्रवृत्ति के अनुसार चन्द्रबिन्दु में अर्थात् 'इदँ' और 'मुदँ' कर दिया जाय तो यति-दोष दूर हो जायगा। ये दोष तो हैं ही, किन्तु ऐसे उदाहरणों के आधार पर ही यह नहीं माना जा सकता कि गीतगोविन्द की रचना पहले अपभ्रंश में हुई और बाद में संस्कृत में। इसके लिए अन्य ठोस प्रमाणों की भी आवश्यकता है।

गीतगोविन्द में २४ गीत हैं और ये विभिन्न रागों में रचे गये हैं। ये गीत विशेष-विशेष भावों की अभिव्यक्ति के लिए यथावसर कृष्ण, राधा और उनकी सखियों के द्वारा गाये गये हैं। साथ ही अनेक श्लोक भी हैं, जो इन गीतों की भूमिका प्रस्तुत करते हैं। स्पष्टतः, संस्कृत में यह एक नई साहित्यिक विधा है, जो नये अभिधान की अपेक्षा रखती है। 'गीतगोविन्द' नाम ही यह बताता है कि यह गीत है। कवि ने इसे 'वासुदेवरतिकेलिकथा-प्रबन्ध' (१।२) कहा है। इसके अभिनेय होने का भी हलका संकेत गीतगोविन्द से ही मिलता है :

'श्रीजयदेवभणितमिदमधिकं यदि मनसा नटनीयम्।
हरिविरहाकुलवल्लवयुवतिसखीवचनं पठनीयम्॥'

(गी० गो०, ४.१०)

इस प्रकार, गीतगोविन्द गेय प्रबन्ध होने के साथ-साथ अभिनेय प्रबन्ध भी माना जा सकता है। गीतगोविन्द के प्रथम दो गीत तो मंगल-गीत ही हैं। बाद में, प्रत्येक अध्याय में

१. **प्राचीन भाषानाटक**, पृ० ६।

२. **प्राकृत-भाषाओं का व्याकरण** : मूल लेखक : रिचर्ड पिशल, अनुवादक : हेमचन्द्र जोशी, पृ० ६९।

प्रथम गीत के पूर्व और कहीं-कहीं अध्यायगत द्वितीय गीत के पूर्व भी श्लोक हैं, जिन्हें प्रस्तावना कहने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। विचारणीय यह है कि अभिनय के समय इन श्लोकों के पढ़नेवालों को किस नाम से पुकारा जाय। प्रस्तावक तो उसे कहा ही जा सकता है। श्रीजगदीशचन्द्र माथुर ने इसे सूत्रधार का नाम देना चाहा है।[१] यह सच है कि समग्र नाटक को संचालित करनेवाली सूत्रधार-पद्धति असम के अंकिया-नाटकों में मिलती है, किन्तु विद्यापति के गोरक्षविजय में सूत्रधार संस्कृत-नाटकों के सदृश ही प्रस्तावना तक ही सीमित हैं। उमापति के **पारिजात-हरण** में सूत्रधार-पद्धति के स्थान पर प्रवेशक गीत की नई पद्धति अपनाई गई है, जो लगभग वही कार्य करती है। इन प्रस्तावना-श्लोकों और गीतों के अतिरिक्त गीतगोविन्द में विभिन्न छन्दों में बहुत-सारे श्लोक भी हैं, जिनमें एक ओर राधा के साथ तो दूसरी ओर कृष्ण के साथ सखी का संलाप है। ये पाठ्य हैं। गीतों में भी संलाप ही हैं, किन्तु वे गेय हैं। ये गीत विभिन्न हाव-भावों के साथ ही गाये जाते होंगे। फलस्वरूप, इनमें अभिनय के तत्त्व स्वतः समाविष्ट हो जाते होंगे। इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि जिस साहित्यिक विधा में गीतगोविन्द रचा गया है, वह अपभ्रंश अथवा अवहट्ठ में नहीं मिलती। हाँ, सिद्धों (सन् ८००–११०० ई०) की चर्या-गीतियों की गीतियाँ भी रागबद्ध हैं। ये गीतियाँ बौद्ध तान्त्रिक चर्या के समय गाई जाती थीं। किन्तु, यह साम्य आंशिक ही है।

जयदेव, गौड के राजा लक्ष्मणसेन (१२वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध) की राजसभा में थे। किन्तु, उनका जन्म-स्थान बंगाल में कहीं था, अथवा उड़ीसा में—यह विवाद का विषय बना हुआ है। गीतगोविन्द के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर उनका जन्म-स्थान उड़ीसा में मानना अधिक संगत प्रतीत होता है :

> "वर्णितं जयदेवकेन हरेरिदं प्रवणेन।
> केन्दुबिल्वसमुद्रसम्भवरोहिणीरमणेन॥" (गीतगोविन्द, ३.१०)

यहाँ स्पष्ट शब्दों में उन्हें समुद्र के निकटवर्त्ती कुन्दुबिल्व नामक स्थान का बताया गया है। श्रीकेदारनाथ महापात्र के अनुसार, यह गाँव पुरी जिले में है।[२] रोहिणी अथवा पद्मावती जयदेव की पत्नी ही नहीं, प्रेयसी भी थी। यह लोकश्रुति कि पद्मावती पुरी के जगन्नाथ-मन्दिर में नृत्य करनेवाली देवदासी थी, सच हो या न हो; किन्तु इतना तो मानना ही पड़ेगा कि वह नृत्य और गीत दोनों में निपुण थी। पुरी का जगन्नाथ-मन्दिर अनन्तवर्मा चोडगंग (सन् १०७८–११४७ ई०) के द्वारा बनाया गया है। मुरारि मिश्र ने **अनर्घराघव** की प्रस्तावना में पुरी के यात्रोत्सव का वर्णन करते हुए लिखा है :

---

१. प्राचीन भाषानाटक, पृ० ९।

२. द्र० : A Descriptive Catalogue of Sanskrit Manuscripts of Orissa, Vol. II, Preface, pp., xxxv—lvi, Ed. by K.N. Mahapatra.

"भो भो लवणोदवेलावनालीतमालतरुकन्दलस्य त्रिभुवनमौलिमण्डनमहानीलमणेः कमलाकुचकलशकेलिकस्तूरिकापत्राङ्कुरस्य भगवतः श्रीपुरुषोत्तमस्य यात्रायाम् उपस्थानीयाः सर्वे सभासदः।"

मुरारिमिश्र चन्देलराजा कीर्त्तिवर्मा (सन् १०६५–११०० ई०) के राजकवि थे। इस प्रकार, ११वीं शती में पुरी में यात्रोत्सव होने का उल्लेख मिलता है।

'यात्रा' संस्कृत का शब्द है और उसका प्रथम अर्थ है, शोभा-यात्रा और द्वितीय अर्थ है, उस उपलक्ष्य में होनेवाला उत्सव-विशेष—संगीत, नृत्य अथवा नाट्य। यात्रा, यात्रोत्सव और यात्रा-महोत्सव शब्द कथासरित्सागर, राजतरंगिणी, पंचतन्त्र आदि में मिलते हैं। यात्रा है तो संस्कृत का शब्द, किन्तु उत्सव के रूप में इसका उद्भव दक्षिण-भारत में हुआ। इस प्रकार, इसे मूलतः द्रविड़ों का धार्मिकोत्सव माना जा सकता है। देव-प्रतिमाओं की यात्रा मूलतः आर्यों की हो भी नहीं सकती; क्योंकि ऋग्वेद में मूर्त्ति-पूजा का उल्लेख नहीं है। यहाँ यह उल्लेख अप्रासंगिक नहीं होगा कि सुमेर-संस्कृति में भी देव-प्रतिमाओं की शोभा-यात्रा का उल्लेख मिलता है। उड़ीसा के गंग-वंशीय राजाओं द्वारा यह उत्सव पुरी में प्रचारित हुआ। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि नेपाल के पाटन नगर में, जहाँ मत्स्येन्द्रनाथ का मन्दिर है, प्रतिवर्ष रथयात्रोत्सव मनाया जाता है। पुरी के प्राचीन यात्रोत्सव का क्या स्वरूप था, यह अनुमान का ही विषय है, किन्तु बाद में बंगाल में प्रचलित यात्रा के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वह किसी-न-किसी प्रकार का लोकनाट्य ही रहा होगा। बंगाल की यात्रा में कृष्णयात्रा सबसे प्राचीन है। **डॉ० सुकुमार सेन** यात्रा का उद्भव पांचाली से मानते हैं।[1] पांचाली में एक ही मूलगाइन (प्रधान गायक) होता है, किन्तु यात्रा में सामान्यतः तीन पात्र होते हैं। यह उल्लेखनीय है कि **गीतगोविन्द** में भी तीन ही पात्र हैं। साथ ही, जैसे गीतगोविन्द में दूती की भूमिका महत्त्वपूर्ण है, वैसे कृष्ण-यात्रा में भी है। ऐसा मानना युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि पहले से आती हुई कृष्ण-यात्रा की परम्परा को आधार बनाकर ही जयदेव ने गीतगोविन्द रचा होगा। **सुशीलकुमार दे**[2] जब यह कहते हैं कि प्राचीन यात्रा को गीतगोविन्द का आधार नहीं माना जा सकता; क्योंकि गीतगोविन्द में अनुकरण-तत्त्व का अभाव है, तब उनका ध्यान गीतगोविन्द के एकमात्र गेय पक्ष पर ही केन्द्रित रहता है। किन्तु, जैसाकि कहा गया है, गीतगोविन्द गेय होने के साथ अभिनेय भी है।

राजा प्रतापरुद्र के आदेश से जगन्नाथ-मन्दिर में सन् १४९९ ई० में उत्कीर्ण अभिलेख से यह ज्ञात होता है कि उक्त तिथि से जगन्नाथ-मन्दिर में देवदासियों, गायकों

१. **बँगला साहित्येर इतिहास**, प्रथम खण्ड, पृ० ९५९।

2. "........Though modelled perhaps on the prototype of the popular Krisṇa-yātrā in its musical and melodramatic peculiarities; it is yet far removed from the old yātrā by its want of improvisation and mimetic qualities."—**History of Sanskrit Literature, p. 392.**

और नर्त्तकों के द्वारा एकमात्र गीतगोविन्द के प्रयोग में लाये जाने का राजकीय आदेश था। जहाँतक जयदेव की संस्कृत की कोमलकान्त पदावली का सम्बन्ध है, यह माना जा सकता है कि उसपर लीलाशुक (ल० सं० ११०० ई०) के **कृष्णकर्णामृत** का प्रभाव पड़ा है। 'कृष्ण-कर्णामृत' में राधा-कृष्ण की प्रणयलीला का वर्णन तो नहीं है, किन्तु कवि ने कृष्ण के प्रति अपने प्रेम का मृदु-मधुर पदबन्ध में बड़ा ही भावभीना वर्णन किया है। कृष्णमाचारियर ने 'कृष्णकर्णामृत' के भावाभिनय का उल्लेख किया है।[1]

गीतगोविन्द अपना प्रचारक तो आप था ही, किन्तु उसके सबसे बड़े प्रचारक हुए **चैतन्यदेव** (सन् १४८५–१५३३ ई०)। इस विषय का विस्तृत विवेचन यहाँ अनावश्यक होगा। यह उल्लेख अवश्य प्रसंगप्राप्त है कि चैतन्य-सम्प्रदाय के **रूपगोस्वामी** (सन् १४९०–१५६३ ई०) ने गीतगोविन्द के अनुकरण पर राधा-कृष्ण की प्रणय-लीला पर 'विदग्धमाधव' और 'ललितमाधव' नामक दो नाटक लिखे और 'दानकेलि' नामक एक भाण लिखा। उड़ीसा के **रामानन्द राय** ने (सन् १५०० ई०) 'जगन्नाथवल्लभ' नामक नाटक लिखा, जिसे उन्होंने संगीत-नाटक कहा। इसमें गीतगोविन्द के अनुकरण पर ही २१ पद, अर्थात् गीत हैं।

मिथिला के सांस्कृतिक-साहित्यिक परिवेश पर गीतगोविन्द का कितना प्रभाव पड़ा, यह इसी से स्पष्ट है कि मैथिली में पद अर्थात् गीत की रचना करनेवाले विद्यापति को महाराज शिवसिंह ने 'अभिनव जयदेव' की उपाधि दी। विद्यापति ने यह अनुभव किया कि संस्कृत में अब दूसरा गीतगोविन्द नहीं लिखा जा सकता। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि रामानन्द राय के 'जगन्नाथ-वल्लभ' के गीत भी जयदेव के गीतों की टक्कर के नहीं हैं। जयदेव के बहुत पूर्व से ही प्राच्यभारत में अपभ्रंश-अवहट्ठ में रागबद्ध गीत लिखे जाने लगे थे। इन गीतों के लेखक बौद्ध सिद्ध थे। यह कहा जा चुका है कि जयदेव के गीत-गोविन्द की रचना का एक प्रेरणा-स्रोत इन गीतों को माना जा सकता है। गीतगोविन्द ने नव्य भारतीय आर्यभाषाओं में साहित्यिक गीत रचे जाने की प्रेरणा दी। ऐसे सर्वप्रथम श्रेष्ठ रचयिता थे विद्यापति। जो बात विद्यापति के गीतों की रचना के सम्बन्ध में कही जा सकती है, वही उनकी नाट्य-रचना के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। विद्यापति ने ही सर्वप्रथम ऐसे नाटक की रचना की, जिसमें संस्कृत-प्राकृत के अतिरिक्त गीत लोकभाषा अर्थात् मैथिली में लिखे गये। यहाँ ज्योतिरीश्वर (१४वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध) के 'धूर्त्त-समागम' नामक प्रहसन की चर्चा उसके मैथिली-प्रतिरूप के उपलब्ध होने के कारण आवश्यक है। 'धूर्त्तसमागम' प्रथम बार सन् १८३८ ई० में बोन में C. Lassen (Anthologia Sanscritica) द्वारा सम्पादित और प्रकाशित किया गया था। तब से हाल तक इसके जितने संस्करण निकले हैं, सभी संस्कृत-प्राकृत में ही हैं। **डॉ० जयकान्त मिश्र** को नेपाल के राज पुस्तकालय में 'धूर्त्तसमागम' की एक ऐसी पाण्डुलिपि मिली, जिसमें संस्कृत-प्राकृत के अतिरिक्त मैथिली में गीत हैं। उक्त पाण्डुलिपि को सम्पादित कर उन्होंने 'मैथिली धूर्त्त-

---

१. **History of Classical Sanskrit Literature, p. 337.**

समागम' नाम से सन् १९६० ई० में प्रकाशित कराया। 'धूर्त्तसमागम' के मैथिली-अंश के मौलिक होने में सन्देह इसलिए होता है कि यदि ज्योतिरीश्वर ने मैथिली गीत भी रचे होते, तो सभी पाण्डुलिपियों में संस्कृत-प्राकृत के साथ मैथिली-गीत भी होते। जिन पाण्डुलिपियों के बीच यह पाण्डुलिपि मिली है, उन्हें वहाँ 'भाषासंस्कृत-नाटक' नाम दिया गया है। 'धूर्त्तसमागम' में १२ मैथिली-गीत हैं। इनमें से द्वितीय गीत को छोड़कर सबमें 'कविशेषर जोतिक' (११वें में केवल 'कविशेषर') भणिता का प्रयोग हुआ है। द्वितीय गीत में भणिता के स्थान पर 'हसइ सिरि गणेसर मन्ति' पाठ है। यही कारण है कि इन गीतों को ज्योतिरीश्वर द्वारा विरचित माना जाता है। 'धूर्त्तसमागम' के निम्नलिखित मैथिली-गीत संस्कृत-श्लोकों के अनुवाद हैं :

भिखिया मोरि करब रे। (गीत ३)
चल चल चलम्मा विकल तन्नी। (गीत ४)
जत हरिभगति पुरुबे मन। (गीत ६)
तोहरि ओ नहि के सनातक भगव। (गीत १०)

निम्नलिखित गीत प्रवेशक गीत हैं :

अइलि हे मम (स ?)वासी। (गीत २, सुरतप्रिया का प्रवेश)
कत न कलावति नारि रे आ। (गीत ५, अनंगसेना का प्रवेश)
आगमवेद किछु-किछु जानिअ। (गीत ९, असज्जाति मिश्र का प्रवेश)
हमे सूरनासक नाउ। (गीत १२, मूलनाशक का प्रवेश)

जहाँ तक अनुवाद का सम्बन्ध है, उसे सामान्य कोटि का भावानुवाद ही माना जा सकता है। यह उल्लेखनीय है कि गोरक्षविजय में संस्कृत-श्लोकों के अनुवाद के रूप में मैथिली-गीत नहीं मिलते। 'धूर्त्तसमागम' के इन मैथिली-गीतों की भाषा और 'वर्णरत्नाकर' की भाषा में कोई साम्य नहीं है। किसी भी एक गीत की भाषा पर विचार करने से उक्त कथन की सचाई सिद्ध हो जायगी। विश्वनगर अपनी भिक्षा का विवरण सुरतप्रिया को दे रहा है :

मांसं माषपटोलतक्रवटिकावास्तूकशाकं वटः
सञ्जीवन्यथ मुद्गमत्स्यविदलप्रायः प्रकारोत्करः।
स्वादिष्ठं च पयोघृतं दधिनवं रम्भाफलं शर्करा
संक्षेपादिति साध्यतां सुवदने भिक्षा मदीया द्रुतम्॥

निम्नलिखित मैथिली-गीत इसका भावानुवाद है :

भिखिआ मोरि करब रे।
सुवदनि भिखिआ मोरि करब रे आ॥ ध्रुवं॥
मासु माछ बल बटिका सांजवि,
मुद्ग मुनि साग परोले आ।

मुद्ग दितले परकार करब,
सवे सङ्गिनि कहन्ञ थोले आ।
तहि दिन जनमाओल दधि,
सुनु सत्वर सोन्ध दूध बड़ घीवे।
केरा सङ्गि रसवेद्य युगुताम्रोव,
कविशेषर जोतिक एहु गावे।

इस गीत की भिन्नाक्षरांकित क्रियाएँ, जैसे : 'करब', 'सांजवि' और 'युगुताओव' उत्तमपुरुष की भविष्यत्कालिक क्रियाएँ हैं। अब विचारणीय यह है कि ये क्रियाएँ वक्ता अर्थात् विश्वनगर के लिए प्रयुक्त हैं, अथवा श्रोता अर्थात् सुरतप्रिया के लिए प्रयुक्त हैं। प्रथम दो पंक्तियों के अर्थ पर ही विचार किया जाय, तो यह स्पष्ट हो जायगा कि विश्वनगर सुरतप्रिया से अपनी भिक्षा का समुचित प्रबन्ध करने के लिए कह रहा है। तो फिर यहाँ क्रियाएँ मध्यमपुरुष की ही हैं। किन्तु, यह मध्यमपुरुष सामान्य कोटि का नहीं, अपितु विशिष्ट कोटि का है, जिसके लिए उत्तमपुरुष की भविष्यत्कालिक क्रियाओं का प्रयोग होता है। इस मध्यमपुरुष का वाचक शब्द है, 'अहाँ'। यही बात आज्ञार्थक 'सुनु' के सम्बन्ध में भी है। यहाँ भी आदरवाचक मध्यमपुरुष ही है। यह सच है कि **विद्यापति** के पदों में आदरवाचक मध्यमपुरुष के उक्त क्रियारूप मिलते हैं, यद्यपि वहाँ भी 'अहाँ' सर्वनाम नहीं है। वर्णरत्नाकर में तो ये क्रियारूप भी नहीं मिलते। वस्तुतः, मध्यमपुरुष 'अहाँ' के ये क्रियारूप बाद के ही हैं। इसलिए, इन गीतों को ज्योतिरीश्वर-रचित मानना संगत नहीं प्रतीत होता है। धूर्त्तसमागम के मैथिली-गीतों की भाषा विद्यापति के बाद की भाषा है। इन गीतों की शब्दावली भी बाद की प्रतीत होती है। वर्णरत्नाकर में 'ओझा' शब्द का नहीं मिलना ऐतिहासिक महत्त्व रखता है। धूर्त्तसमागम में मैथिली-गीतों में 'ओझा' शब्द (गीत ९) आया है। वर्णरत्नाकर में 'रम्भा' है, तो मैथिली धूर्त्तसमागम में 'केरा' (गीत ३)। वर्णरत्नाकर में 'कपोल' है, तो मैथिली धूर्त्तसमागम में 'गाल' (गीत ४)। धूर्त्तसमागम के मैथिली-गीतों में कवित्व नहीं के बराबर है, जबकि संस्कृत-प्राकृत अंश कवित्व से पूर्ण हैं। धूर्त्तसमागम का एक गीत (७) भाषा और भाव दोनों दृष्टियों से गीतगोविन्द का अनुकरण है। ऐसा लगता है कि जब मैथिली-गीतों से उक्त संस्कृत-नाटकों का प्रदर्शन लोकप्रिय होने लगा होगा, तब नाटक-प्रयोक्ताओं की ओर से शुद्ध संस्कृत-प्राकृत-नाटकों में भी यत्र-तत्र मैथिली-गीत रच-रचकर भरे जाने लगे होंगे। ऐसे गीत कहीं भावानुवाद, कहीं प्रवेशक और कहीं नृत्य आदि के रूप में रचे गये होंगे। यहाँ यह उल्लेख कम महत्त्व का नहीं है कि विद्यापति के गोरक्षविजय के २६ गीतों में से एक भी संस्कृत अथवा प्राकृत-अंश का अनुवाद नहीं है। संस्कृत-नाटकों में प्रयोक्ताओं की ओर से रच-रचकर मैथिली-गीतों के घुसेड़े जाने का आरम्भ विद्यापति के बाद ही हुआ होगा।

संस्कृत-मैथिली नाटकों के इतिहास में पारिजातहरण के रचयिता **उमापति** का काल-निर्धारण भी एक समस्या ही है। विद्यापति और उमापति के मैथिली-पदों की भाषा

के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उमापति विद्यापति के परवर्त्ती थे। साथ ही, यह भी कहा जा सकता है कि जो एकाध पद दोनों कवियों के नाम से मिलते हैं, वे मूलतः विद्यापति-रचित ही हैं। पारिजातहरण में इक्कीस मैथिली-गीत हैं, जिनमें दो (गीत-सं० ६ और १४) संस्कृत-श्लोकों के भावानुवाद हैं। गीत-सं० ६ पूर्ववर्त्ती संस्कृत-पद्य का भावानुवाद है। अनुवाद होने पर भी गीत-सं० १४ की स्थिति विलक्षण है। इस अष्टपदी गीत में तदर्थक तीन संस्कृत-पद्य हैं। समग्र नाटक में यह पद्धति एकमात्र यहीं अपनाई गई है, जो नाटकीय दृष्टि से खटकनेवाली है। जिस ढंग से दो-दो पदों के अन्तराल में संस्कृत-पद्य घुसेड़े गये हैं, उससे तो गीत की गेयता ही व्याहत हो जाती है। यह भी उल्लेखनीय है कि प्रत्येक अन्तःपाती संस्कृत-श्लोक से पूर्व अवतरणिका दी हुई है : **'एतस्मिन्नर्थे श्लोकः'**। यह अवतरणिका एकमात्र इसी गीत में मिलती है। साथ ही, पारिजातहरण के इक्कीस गीतों में एकमात्र यही गीत है, जहाँ 'भणिता' में **'हिमगिरि कुम्मरिचरण'** का उल्लेख मिलता है। फिर एकमात्र यहीं दो गीत एक साथ आये हैं, अन्यथा सर्वत्र एक-एक गीत ही है। परिणामस्वरूप, स्वभावतः, यह सन्देह उत्पन्न होता है कि यह गीत उमापति-रचित है, अथवा नहीं। यही गीत विद्यापति के नाम पर भी मिलता है। नगेन्द्रनाथ गुप्त की विद्यापति-पदावली में यह गीत इस प्रकार है :

मानिनि,

अरुन पूरबदिसा बहलि सगरि निसा,
गगन मगन भेल चन्दा।
मुदि गेल कुमुदिनि तइअयो तोहर धनि,
मूदल मुख अरविन्दा॥
चान्दवदन कुवलय दुहु लोचन,
अधर मधुर निरमाने।
सगर शरीर कुसुमे तुय सिरिजल,
किएदहु हृदय पखाने॥
असकति करह ककन नहि परिहह,
हार हृदय भेल भारे।
गिरि सम गरुअ मान नहि मुञ्चसि,
अपरुब तुअ बेवहारे॥
अवगुन परिहरि हेरह हरखि धनि,
मानक अवधि विहाने।
राजा सिवसिंह रूप नाराञेन,
कवि विद्यापति भाने॥

यही गीत डॉ० बजरंग वर्मा द्वारा सम्पादित 'पारिजातहरण' में यथानिर्दिष्ट रूप में है :

मानिनि,

अरुन पुरुबदिसि बहलि सगरि निसि,
गगन मगन भेल चन्दा।
मुनि गेल कुमुदिनि तइओ तोहर धनि,
मूनल मुख अरविन्दा ॥

मानिनि,

कमलवदन कुवलय दुहुलोचन,
अधर मधुरि निरमाने।
सगर शरीर कुसुम तुअ सिरिजल,
किए तुअ हृदय पखाने ॥

मानिनि,

असकति कर कंकन नहि परिहसि,
हृदय हार भेल भारे।
गिरि सम गरुअ मान नहि मुञ्चसि,
अपरुब तुअ बेवहारे ॥

मानिनि,

अवगुन परिहरि हरखि हेरु धनि,
मानक अवधि विहाने।
हिमगिरि कूमरि चरन हृदय धरि,
सुमति उमापति भाने ॥

भाषा की दृष्टि से महत्त्व के पाठभेद हैं : मुदि—मुनि, मूदल—मूनल, कुसुमें तुय—कुसुम तुअ, करह ककन—कर-कंकन, परिहसि—परिहह, हेरह-हरखि—हरखि हेरु। तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि विद्यापति-पदावली के पाठ पुराने हैं। मुनि—मूनल की अपेक्षा मुदि—मूदल प्राचीन रूप हैं। निर्विभक्तिक 'कुसुम तुअ' और 'कर कंकन' की अपेक्षा सविभक्तिक 'कुमुमें तुअ' और 'करह ककन' प्राचीन हैं। 'हेरह' और 'हेरु' में भी पूर्वरूप ही प्राचीन है। जहाँतक 'परिहसि' और 'परिहह' का प्रश्न है, दोनों ही रूप प्राचीन हैं। इस प्रकार, विद्यापति की भणिता से युक्त पद ही प्राचीन ठहरता है। ऐसा लगता है कि संस्कृत-मैथिली-नाटक के प्रचलित हो जाने पर खेलनेवाले उन्हें उन्हीं रूपों में खेलने को बाध्य नहीं रहते थे। वे उनमें लोकरुचि के अनुसार, परिवर्त्तन-परिवर्द्धन भी करते रहते थे। इसी प्रकार के किसी प्रयोक्ता द्वारा यह पद पारिजातहरण में उपयुक्त स्थल ढूँढ़कर घुसेड़ दिया गया होगा। विद्यापति के उपर्युक्त पद में जो भाव है, वह संस्कृत-मुक्तक-काव्य के लिए नया नहीं है। उमापति ने भी उस परम्परा में कई संस्कृत-श्लोक रचे होंगे, जिन्हें उक्त अष्टपदी के बीच-बीच में रख दिया गया। विद्यापति के पद के आरम्भ में ही 'मानिनि' सम्बोधन है, किन्तु पारिजातहरण में तदतिरिक्त प्रत्येक द्विपदी के बाद यह

सम्बोधन आया है, जो इसके संगीत-प्रयोग का सूचक है। यहीं यह उल्लेख भी आवश्यक है कि **चेतनाथ झा** द्वारा सम्पादित पारिजातहरण में 'मानिनि' के स्थान पर 'ओ गे मानिनि' पाठ है, जो उक्त मत का और अधिक समर्थन करता है।

'पारिजातहरण' के मैथिली-गीतों की भाषा विद्यापति की पदावली की भाषा की अपेक्षा अर्वाचीन प्रतीत होती है। एक उदाहरण यहाँ दिया जा रहा है। एक गीत (१९) की पंक्ति है :

'पारिजाततरु गरुड़ चढ़ाओल हरि कर कमल उपाड़ि।'

इसमें 'पारिजात-तरु' (द्वि०), 'गरुड़' (स०) और 'करकमल' (तृ०)—सभी निर्विभक्तिक हैं। नव्य मैथिली की अपेक्षा ये प्राचीन अवश्य हैं; क्योंकि नव्य मैथिली में इस वाक्य में सर्वत्र भिन्न-भिन्न परसर्ग लग जायेंगे। किन्तु, प्राचीन मैथिली का यह उत्तर-कालीन रूप ही है और विद्यापति के बाद का है। पारिजातहरण के गीत (४) में वसन्त का वर्णन किया गया है। कतिपय पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत की जा रही हैं :

'अति मञ्जु वञ्जुल पुञ्ज पिञ्जल चारु चूअ विराजहीं।
निज मधुहिं मातलि पल्लवच्छबि लोहितच्छबि छाजहीं॥
पुनु केलि कलकल कतहु आकुल कोकिलाकुल कूजहीं।
जनि तीनि जग जिति मदन नृपमनि विजयराज सुराजहीं॥

इसकी तुलना रामचरितमानस के निम्नलिखित छन्द से की जा सकती है :

जागइ मनोभव मुएहुँ मन वन सुभगता न परै कही।
सीतल सुगंध सुमंद मारुत मदन अनल सखा सही॥
बिकसे सरन्हि बहु कंज गुंजत पुंज मंजुल मधुकरा।
कलहंस पिक सुक सरस रव करि गान नाचहिं अपछरा॥ (बा० का०, ८५)

पारिजातहरण का उक्त वसन्त-वर्णन न केवल रामचरितमानस की रचना-शैली से प्रभावित है, अपितु उसकी भाषा से भी प्रभावित है। 'विराजहि', 'छाजहि' आदि वर्त्तमान-कालिक रूप अवधी के हैं। 'वर्णरत्नाकर' और विद्यापति की पदावली में, वर्त्तमान काल में, अन्यपुरुष में -इ तिङ प्रत्यय तो मिलता है, किन्तु -हि नहीं मिलता। उक्त दोनों ही पद २८ मात्राओं के हरिगीतिका छन्द में हैं, यद्यपि 'रामचरितमानस' में उक्त पद के लिए केवल 'छन्द' शब्द का प्रयोग किया गया है और पारिजातहरण के पद के लिए 'वसन्तराग' शब्द का प्रयोग किया गया है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि 'गीतगोविन्द' के '**ललितलवङ्गलता-परिशीलन कोमलमलयसमीरे....**' का शीर्षक भी वसन्तराग है, यद्यपि वह सार छन्द में है। सार छन्द में भी २८ मात्राएँ होती हैं और यति सोलहवीं मात्रा पर होती है। किन्तु, अन्त में दो गुरु होते हैं।

डॉ० बजरंग वर्मा ने 'नवपारिजातमंगल' (डॉ० वर्मा के अनुसार, पारिजातहरण का उचित नाम 'नवपारिजातमंगल' ही है) की भूमिका (पृ० २८) में लिखा है :

"उमापति ने अपने प्रस्तुत नाटक में कई ऐसे शब्दों के प्रयोग किये हैं, जिनसे उनका बहुत ही प्राचीन—चौदहवीं शती के लगभग का—होना सिद्ध होता है। 'करके' के अर्थ में 'करु', 'रखना' के अर्थ में 'थापल', 'प्रिय' के अर्थ में 'विरमान', 'आम' के अर्थ में 'चूअ', 'समीप' के अर्थ में 'समाज', 'यदि' के अर्थ में 'जेउँ', 'किस' के अर्थ में 'किअ' आदि शब्दों के प्रयोग इसी प्रकार के उदाहरण हैं।"

कृष्णनन्दन पीयूष ने (पारिजातहरण, भूमिका, पृ० ३१) तो इसे दुहराया ही है, **श्रीजगदीशचन्द्र माथुर** और **श्रीदशरथ ओझा** ने भी 'प्राचीन भाषानाटक' (पृ० १७०) में इसे उद्धृत किया है। अतएव, एक-एक कर इन शब्दों का विवेचन अपेक्षित है। 'विरमान' शब्द छह गीतों में आया है: ३, ६, ७, १२, १३ और १६। इनमें तीन गीतों में (६, ७, १६) प्रायः एक ही पाठ है: 'माहेशरि देइ विरमाने' (६, ७) अथवा 'माहेशरि देइ विरमान' (१६)। ऐसा लगता है कि यहाँ 'विरमान' अथवा 'विरमाने' अपपाठ है और लेखक-प्रमादजन्य है। वस्तुतः, यहाँ 'रमाने' अथवा 'रमान' ('माहेशरि देवि रमाने' अथवा 'माहेशरि देवि रमान') रहा होगा। इससे उक्त पदों के छन्दों का लँगड़ापन भी दूर हो जाता है। गीत-सं० ३ और १३ का पाठ है—'पटमहिषी विरमाने'। इस पाठ की स्थिति किंचित् भिन्न अवश्य है। यहाँ यह उल्लेख अप्रासंगिक नहीं होगा कि इन गीतों की मात्रा निश्चित नहीं है, कहीं मात्रान्यूनता है, तो कहीं मात्राधिक्य। **चन्दा झा** और **चेतनाथ झा** के संस्करणों में गीत-सं० १३ का पाठ है: 'पटमहिषी विरमान', किन्तु **डॉ० बजरंग वर्मा** के 'नवपारिजातमंगल' का पाठ है: 'महेसरि देइ विरमाने'। तो फिर गीत-सं० ३ में भी यही पाठ रहा होगा, अथवा 'पटमहिषी देवि रमाने' पाठ रहा होगा। उक्त पाठभेद से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जो पाठ विभिन्न संस्करणों में उपलब्ध हैं, उन्हें ही मूल नहीं माना जा सकता; क्योंकि ये नाटक खेले जाते थे। इसलिए, इनके पाठ-परिवर्तन में हाथ से अधिक कण्ठ का स्थान था। गीत-सं० १२ में जहाँ 'महारानि विरमाने' पाठ है, वहाँ भी 'माहेसरि देवि रमाने' पाठ ही रहा होगा। सच तो यह है कि 'विरमान' कोई शब्द ही नहीं है। अतएव, उपर्युक्त समाधान ही संगत है। 'समाज' शब्द निम्नलिखित गीत में आया है:

'जाएब हरिक समाजे पाओब नयन सुख आजे।' (गीत ६)

यहाँ समाज का अर्थ मण्डली है, न कि समीप। डॉ० वर्मा ने भी यहाँ इसका अर्थ किया है, 'दरबार', जो ठीक ही है। मण्डली में जाने का अर्थ समीप जाना है, किन्तु यह फलितार्थ ही हुआ। आम के लिए प्राकृत चूअ (> सं० चूत) का प्रयोग प्राचीनता का द्योतक नहीं है। 'चारु' के साथ 'चूअ' की संगति तो स्पष्ट है। संस्कृत 'चूत' के स्थान पर प्राकृत 'चूअ' का प्रयोग भाषा में 'चूत' के नितम्ब अर्थ की खटक के चलते किया गया होगा। 'किअ' शब्द निम्नलिखित तीन गीतों में आया है:

१. गुपुत करह किअ स्वामी। (गीत ७)

२. साजनि आब जिबन किअ काजे। (गीत १३)

३. किए बिगरल मोर नाम। (गीत १६)

जहाँ तक प्रथम उदाहरण का सम्बन्ध है, चन्दा झा और चेतनाथ झा के संस्करणों का पाठ है, 'किये', जो ठीक है। इसकी पुष्टि तृतीय उदाहरण से होती है, जहाँ डॉ० वर्मा ने भी 'किए' पाठ ही दिया है। 'किए' का अर्थ है, क्यों। द्वितीय उदाहरण में चन्दा झा और चेतनाथ झा के संस्करणों का पाठ है, 'कौन', जो संगत प्रतीत होता है। क्यों के अर्थ में, 'किए' का प्रयोग नव्य मैथिली में भी होता है। 'जएँ' और 'जउँ' निम्नलिखित गीतों में आये हैं :

१. भगति दीअ जएँ पानी। (गीत ७)

२. पुरुब पिरिति रिति हुनि जउँ बिसरल। (गीत १२)

३. मानिनि मानह जउँ मोर दोसे। (गीत १५)

चन्दा झा और चेतनाथ झा के संस्करणों में गीत ७ और गीत १२ में 'यँ' पाठ है और गीत १५ के लिए उनका पाठ है, 'जओं'। यही पाठ ठीक है और यह प्राचीन प्रयोग भी नहीं है। डॉ० वर्मा का यह कथन भी संगत नहीं है कि 'करके' के अर्थ में 'करु' का प्रयोग हुआ है। 'करु' 'कर्' धातु का भूतकाल के अन्यपुरुष का रूप है। उदाहरण है :

'सुरतरु घन उपवन करु मण्डप वेदि रचल भल हिम अचला।'

इसका अर्थ है : (भवानी ने) हिमालय पर्वत पर कल्पतरुओं के घने उपवन का मण्डप बनाया और सुन्दर वेदी की रचना की।

उकारान्त भूतकालिक रूप 'पारिजातहरण' में अन्यत्र भी आया है :

अवतरु अवनी तेजि अकास। (गीत ५)

'थापल' 'थापब' क्रिया का भूतकालिक रूप है और इसका प्रयोग गीत-सं० २ में हुआ है। विद्यापति ने भी इसका प्रयोग किया है :

तुअ चञ्चल चित थपना नहि थिर। (वि० प०, प्र० भाग, गीत २२१)

इस प्रकार, भाषा के आधार पर उमापति को विद्यापति का पूर्ववर्त्ती नहीं मानकर परवर्त्ती मानना अधिक उचित प्रतीत होता है। नाट्यशिल्प की दृष्टि से भी 'पारिजातहरण' को 'गोरक्षविजय' के बाद की रचना मानना उचित प्रतीत होता है। 'गोरक्षविजय' में संस्कृत में ही नान्दी और भरतवाक्य हैं। 'पारिजातहरण' में सर्वप्रथम मैथिली में ही मंगल-गीत है और बाद में संस्कृत में नान्दी है। भरतवाक्य भी यहाँ पहले मैथिली में और बाद में संस्कृत में है। यह नवीकरण संस्कृत-मैथिली-नाटक की परम्परा के प्रचलित हो जाने पर ही सम्भव हुआ होगा। उमापति ने एक नया नाट्यशिल्प चलाया—प्रवेशक गीत। नये पात्र के रंगमंच पर आने पर मैथिली में प्रवेशक गीत गाये जाते थे। इसका नयापन मैथिली-गीतों के कारण ही है, अन्यथा 'विक्रमोर्वशीयम्' में भी चतुर्थ अंक में अपभ्रंश के प्रवेशक गीत पाये जाते हैं। इनकी आवश्यकता तब पड़ी होगी, जब परदे के विना ही नाटक खेले जाने लगे होंगे। कोई प्रमुख पात्र अभी-अभी आया है, यह परिचय देना आवश्यक हो

गया होगा। संस्कृत-नाटकों में यह कार्य परदा हिलाकर किया जाता था, जिसके लिए 'पटीक्षेप' अथवा 'अपटीक्षेप' शब्द का प्रयोग होता था। 'गोरक्षविजय' में 'अपटीक्षेप' का प्रयोग मिलता है। यहाँ यह उल्लेख आवश्यक है कि मैथिली-'धूर्त्तसमागम' में प्रवेशक शब्द के अभाव में भी प्रवेशक के रूप में मैथिली-गीतों का प्रयोग हुआ है। यह 'गोरक्षविजय' से उसकी (मैथिली-गीतों की) अर्वाचीनता की ओर ही संकेत करता है। ज्योतिरीश्वर का 'मैथिली-धूर्त्तसमागम' हो अथवा उमापति का 'पारिजातहरण', संस्कृत-श्लोकों के अनुवाद के रूप में मैथिली-गीत जहाँ भी हैं, वे प्रयोक्ताओं, अर्थात् नाटक खेलनेवालों की ओर से ही किये गये माने जा सकते हैं। नाटककारों के द्वारा मूल संस्कृत के मैथिली-अनुवाद किये जाने का औचित्य नहीं प्रतीत होता। श्रीजगदीशचन्द्र माथुर ने रचयिता की प्रति और प्रयोक्ता की प्रति में भेद की चर्चा की है।[1] यह बात संस्कृत-नाटकों पर जितनी लागू है, उससे अधिक उन नाटकों पर लागू है, जिनमें तत्कालीन लोकभाषा का प्रयोग मिलता है। लोकभाषा का प्रयोग ही यह बताता है कि नाटक खेलने के लिए लिखे जाते थे। ऐसी पद्धति के चल पड़ने पर प्रयोक्ता यत्र-तत्र परिवर्त्तन-परिवर्द्धन कर पुरानी पद्धति पर लिखे गये नाटकों को भी खेलने योग्य बना लेते थे। इस प्रकार, विद्यापति का 'गोरक्षविजय' ही संस्कृत-मैथिली-नाटकों में सर्वाधिक प्राचीन ठहरता है।

'गोरक्षविजय' को उसकी प्रस्तावना में नाटक कहा गया है। यहाँ 'नाटक' शब्द का प्रयोग चलते अर्थ में ही किया गया है। विद्यापति का 'गोरक्षविजय' संस्कृत-नाट्य-परम्परा और मैथिली-नाट्य-परम्परा के बीच की पहली कड़ी है। इस पहली कड़ी के और बाद की कड़ियों के नाम-रूप की खोज संस्कृत-लक्षणग्रन्थों में संगत नहीं है। 'गोरक्षविजय' से प्रारम्भ होनेवाले संस्कृत-प्राकृत-मैथिली में लिखे जानेवाले इन नाटकों को कौन-सा नाम दिया जाय? 'गोरक्षविजय' के सम्पादक **डॉ० जयकान्त मिश्र** ने इसे कीर्त्तनिञा नाटक का पूर्वरूप कहा है। पूर्वरूप इसलिए कि इसमें कोई कीर्त्तन नहीं है।[2] डॉ० मिश्र उमापति के पारिजातहरण नाटक को कीर्त्तनिञा नाटक का जनक मानते हैं।[3] 'कीर्त्तन' शब्द है तो संस्कृत का ही, किन्तु इसे चलता किया **चैतन्यदेव** (सन् १४८५–१५३३ ई०) ने। चैतन्यदेव **जयदेव, विद्यापति** आदि के लीलापदों का गान करते थे और नाचते थे। चैतन्यदेव नाम-कीर्त्तन भी करते थे। 'चैतन्यभागवत' से यह पता चलता है कि उस समय लीलापद वाद्य और नृत्य के साथ गाये जाते थे। चैतन्यदेव के प्रभाव से इन सबका सम्मिलित कीर्तन चल पड़ा। किन्तु, एक विशिष्ट गीत-पद्धति के रूप में कीर्त्तन का विकास **नरोत्तमदास** (सोलहवीं शती का अन्त) के समय में हुआ। असम में **शंकरदेव** (सन् १४४९–१५६८ ई०) ने कृष्णभक्ति की जिस धारा का प्रवर्त्तन किया, उसमें सामूहिक कीर्त्तन का प्रमुख स्थान था। शंकरदेव का 'कीर्त्तनघोषा' नामक ग्रन्थ कीर्त्तन ही है। शंकरदेव के शिष्य **माधवदेव** ने

---

१. प्राचीन भाषानाटक, पृ० ५।

२. गोरक्षविजय, मैथिली-आमुख, पृ० ५।

३. A History of Maithili Literature, p. 311

नाम-कीर्त्तन पर 'नामघोषा' नामक ग्रन्थ लिखा। शंकरदेव के सम्प्रदाय में नाम-कीर्त्तन का इतना प्रचार था कि इनके सभी नाटकों में और बाद के लेखकों के नाटकों में भी सूत्रधार के द्वारा बीच-बीच में यह कहलाया जाता था : "आहे लोक ताहे देखह सुनहु निरंतरे हरि बोल हरि।" इस आधार पर असम के इन नाटकों को कीर्त्तनिञा नाटक कहना सर्वथा समीचीन होगा। किन्तु, इनके अपने नाम हैं, 'अंकियानाट'। ये नाटक एक ही अंक के होते हैं। शंकरदेव आदि के द्वारा लिखे गये नाटकों की भाषा ब्रजबुलि, अर्थात् ब्रजभाषा और मैथिली का मिश्रण है। ब्रजभाषा इसलिए कि कृष्ण और राधा की लीलाभूमि ब्रज ही है और मैथिली इसलिए कि विद्यापति के लीलापद प्राच्यभारत के वैष्णवों के कण्ठहार बन चुके थे। असम के अंकियानाट न केवल धार्मिक नाटक हैं, अपितु वे वैष्णव धर्म के प्रचार के लिए लिखे गये हैं। यह बात मिथिला में लिखे गये संस्कृत-मैथिली-नाटकों पर लागू नहीं होती। 'वर्णरत्नाकर' में न तो 'कीर्त्तन' शब्द आया है और न 'कीर्त्तनिञा'। यदि उस समय संगीत, नृत्य अथवा नाट्य की सम्मिलित अथवा पृथक् रूप में अवस्थित कीर्त्तन नामक किसी विधा का प्रचार रहा होता, तो 'वर्णरत्नाकर' में इसका उल्लेख अवश्य मिलता। 'वर्णरत्नाकर' में संगीत और नाटक की विस्तृत चर्चा है, किन्तु नाटक का विवरण कहीं नहीं मिलता। सम्भव है, वह लुप्त अंशों में रहा हो। 'वर्णरत्नाकर' में एक महत्त्वपूर्ण लोकनृत्य का उल्लेख है, 'लोरिक नाच'। लोरिक-गीत आख्यान-गीत है, साथ ही काफी लम्बा भी है। 'वर्णरत्नाकर' के उल्लेख से यह स्पष्ट है कि इसे गाकर सुनाया ही नहीं जाता था, अपितु नाचकर दिखाया भी जाता था। नाचकर दिखाने का यह अर्थ नहीं है कि नाटक करके दिखाया जाता था; क्योंकि नाटक के लिए जितने उपकरणों की आवश्यकता होती है, उतने लोकनृत्य करनेवालों के लिए सुलभ हीं नहीं हो सकते थे। तत्कालीन साहित्य से उस समय के लोकनृत्य की विधि पर भी कोई प्रकाश नहीं पड़ता, 'गोरक्षविजय' में तेलंग देश के दो नटों के नृत्य देखने के बाद राजा ने कहा है :

जे गावसि से चित्र देखावसि।
जे भावसि से बोले।। (गीत १६)

इससे गीति-नृत्य का संकेत मिलता है। 'वर्णरत्नाकर' का 'नट्—नर्त्तक' और 'गोरक्षविजय' का 'नट' और 'नट-वटु' वही अर्थ व्यक्त करते हैं, जो आज का मैथिली-शब्द 'नटुआ' व्यक्त करता है। सम्प्रति मैथिली में 'कीर्त्तनिञा' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में होता है : १. कीर्त्तन गानेवाले व्यक्ति अर्थात् समूह और २. भगवत्कथा को आधार बनाकर नाच दिखानेवाली मण्डली। द्वितीय अर्थ में ही यह विवाद है कि कीर्त्तनिञा मण्डली नाच अर्थात् गीति-नृत्य करती है, अथवा नाटक खेलती है। **रमानाथ झा** ने कीर्त्तनिञा मण्डली द्वारा 'पारिजात-हरण' और 'गौरी-स्वयंवर' के प्रदर्शन का आँखों देखा वर्णन लिखा है।[1] इस वर्णन की उल्लेखनीय बातें हैं :

---

१. द्र० : **अभिव्यंजना**, सितम्बर-अक्टूबर, १९६२ ई०, पृ० ३७—४४।

१. छह व्यक्तियों की मण्डली में तीन गायक-नर्त्तक, एक बिपटा अर्थात् विदूषक और दो वाद्य (मृदंग और झाल)-वादक रहते थे। मूलगाइन अर्थात् प्रधान गायक-नर्त्तक पुरुष-वेश में घाघरा पहने रहता था। यही नायक होता था। अन्य दो गायक-नर्त्तक स्त्री-वेश में नायिका और सखी के रूप में, उसके उभय पार्श्व में खड़े रहते थे।

२. मूलगाइन गीत प्रारम्भ करता था और शेष उसका साथ देते थे। ऐसा नहीं था कि नायक की उक्ति मूलगाइन और नायिका की उक्ति स्त्री-पात्र गाते थे। गाते और नाचते थे सभी साथ मिलकर, किन्तु भाव-प्रदर्शन के समय नायक अथवा नायिका अथवा सखी आगे आकर अभिनय करती थी।

३. गीतों के अन्तराल में बिपटा अर्थात् विदूषक तरह-तरह के फकड़े सुनाकर दर्शकों का मनोरंजन करता था।

४. सारी मण्डली एक वेश में एक साथ आदि से अन्त तक रंगमंच पर रहती थी। न तो प्रवेश होता था और न निष्क्रमण।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर रमानाथ झा कीर्त्तनिञा मण्डली के प्रदर्शन को 'गीति-नाट्य' नहीं, अपितु 'गीति-नृत्य' मानते हैं। किन्तु इसमें कई नाटकीय तत्त्व भी विद्यमान हैं। नान्दी के साथ प्रस्तावना में नाटककार का परिचय रहता ही था। बिपटा अर्थात् विदूषक का अस्तित्व नृत्य की अपेक्षा नाट्य की ओर ही अधिक संकेत करता है। ऐरावत और गरुड भी जैसे-तैसे बनाये ही जाते थे। सम्मिलित गान होने पर भी भाव-प्रदर्शन के समय उपयुक्त पात्र आगे बढ़कर भाव-प्रदर्शन करता ही था। ऐसा लगता है कि मण्डली प्रयास तो नाटक खेलने का ही करती थी, किन्तु उचित साधनों के अभाव में सफलता के साथ कर नहीं पाती थी। संस्कृत-मैथिली-नाटकों में गद्यांश संस्कृत-प्राकृत में रहते थे, जिन्हें मण्डली के लोग बोल ही नहीं सकते थे। इसलिए, गद्य-संवाद के अभाव में उक्त प्रदर्शन को गीति-नृत्य के बदले गीति-नाट्य कहना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

श्रीजगदीशचन्द्र माथुर ने पूर्णिया जिले के 'विदापतनाच' का जो वर्णन किया है[1], उसकी उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं।[2]

१. यह नाटक मंच बनाकर नहीं, अपितु जमीन पर ही, जहाँ दोनों ओर दर्शक बैठे हुए थे, खेला गया। साजघर अर्थात् नेपथ्य-गृह कुछ दूरी पर था।
२. नाटक खेलनेवालों का नेता मूलगाइन कहलाता था, जो गायन का नेतृत्व करता था। मंगल-गान के बाद मूलगाइन और बिपटा अर्थात् विदूषक के बीच संवाद के द्वारा नाटक का परिचय दिया जाता है।
३. राधा और उनकी सखियों का सामूहिक रास-नृत्य होता है। साथ ही विद्यापति-विरचित गीत भी गाये जाते हैं।

---

१. प्राचीन भाषानाटक-संग्रह, पृ० ४३–४७।
२. उक्त वर्णन 'पारिजातहरण' नाटक का है।

४. नाटक प्रारम्भ होने पर कृष्ण और नारद के प्रवेश की कथा पद्य में कही जाती है। संवाद पद्य में होता है। मूलगाइन भी बीच-बीच में परिस्थिति-विशेष को समझाने के लिए गद्य का प्रयोग करता है।

५. इन्द्र और कृष्ण के बीच युद्ध का भी दृश्य दिखाया गया है। युद्ध में भाग लेनेवाले लोग मुखौटा पहने हुए हैं।

इस प्रकार, इसे नाटक मानने में तो आपत्ति नहीं हो सकती, किन्तु यह अभिनय आधुनिक काल का प्रतीत होता है और इसपर बंगाल के 'यात्रा-नाटक' का प्रभाव लक्षित होता है। साथ ही, जो 'पारिजातहरण' खेला गया, वह उमापति का 'पारिजातहरण' नहीं, अपितु शंकरदेव का 'पारिजातहरण' है। शची और सत्यभामा के झगड़े शंकरदेव के 'पारिजातहरण' में ही हैं। साथ ही, शंकरदेव के नाटकों में सूत्रधार जो काम करता है, वही यहाँ मूलगाइन करता है। किन्तु, समस्या यह है कि उक्त अभिनय को 'विदापत-नाच' क्यों कहा जाता है? यह नाम पुरानी परम्परा का द्योतक है। इसका समाधान भी उक्त अभिनय के अन्तर्गत ही है। 'पारिजातहरण' नाटक से सर्वथा असम्बद्ध जिस सामूहिक रास-नृत्य का प्रदर्शन अनिवार्य रूप में किया जाता है, वही विदापत-नाच का प्राचीन और केन्द्रभूत अंश रहा होगा। इसे 'विदापत' कहने का तात्पर्य यही हो सकता है कि विद्यापति के पदों के आधार पर ही नृत्य होते थे। इसकी पुष्टि 'मूलगाइन' और 'बिपटा' शब्द से भी होती है। ऐसा लगता है कि विदापत-नाच-मण्डली ने आधुनिक काल में नाटक खेलना भी शुरू कर दिया, किन्तु अपना परम्परागत नृत्य भी जारी रखा।

इसी प्रसंग में असम के ओजापाली (< ओझापाली) नृत्य का उल्लेख भी आवश्यक है। यहाँ ओझा है मूलगाइन और पाली है उसका सहायक। दाईं ओर रहनेवाला दायनापाली उसका प्रमुख सहायक होता है। दोनों के सम्भाषण से कथा का आरम्भ होता है। बीच-बीच में सामूहिक गान तथा नृत्य होते हैं।

एक बात स्पष्ट है कि विद्यापति के 'गोरक्षविजय' से प्रारम्भ होनेवाले संस्कृत-मैथिली-नाटकों को कीर्त्तनिञा-नाटक की आख्या देना सर्वथा भ्रम है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि मिथिला के नाटककारों ने समान भाव से कृष्ण और शिव के आख्यानों पर नाटक लिखे हैं, जबकि असम के सभी अंकिया-नाट कृष्ण-आख्यान पर ही आधृत हैं। मैथिली में भी 'कीर्त्तन' शब्द मुख्य रूप में कृष्ण के भजनों के लिए ही प्रयुक्त होता है। शिव के भजन महेशवाणी, नचारी आदि नामों से ख्यात हैं। यह स्पष्ट है कि संस्कृत-मैथिली-नाटक-रचयिताओं ने 'कीर्त्तनिञा' नाम के नाटक नहीं लिखे। यह भी नहीं माना जा सकता है कि इन नाटकों का प्रदर्शन कीर्त्तनिञा-मण्डली द्वारा होता था। 'गोरक्षविजय' का अभिनय महाराज शिवसिंह की आज्ञा से हुआ था। सतरहवीं-अट्ठारहवीं शताब्दियों में नेपाल में बहुत-सारे संस्कृत-मैथिली-नाटक लिखे गये। इनमें से कई वहाँ के राजकीय रंगमंचों पर ही खेले गये। नरेन्द्रनाथ दास और डॉ० जयकान्त मिश्र ने मिथिला के रंगमंच और

कीर्त्तनिञा-मण्डली के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है, वह उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से ही सम्बद्ध माना जा सकता है। मण्डली के लिए 'जमाति' और नायक के परिधान के लिए 'जामा', 'नीमा', 'पैंजामा' आदि सभी फारसी के शब्द हैं और फारसी रंगमंच के प्रभाव को द्योतित करते हैं। मिथिला की कीर्तनिञा-मण्डली के उद्भव और विकास पर अनुसन्धान की आवश्यकता तो अब भी बनी हुई है, किन्तु इतना स्पष्ट है कि चैतन्यदेव और शंकरदेव ही इसके प्रमुख प्रेरणा-स्रोत रहे हैं।

'गोरक्षविजय' की उपलब्ध प्रतियाँ और उनके पाठ :

नेपाल से प्रकाशित 'संस्कृत-सन्देश' पत्रिका में विद्यापति-कृत 'गोरक्षविजय' नाटक सर्वप्रथम प्रकाशित हुआ था। इसकी आधारभूत हस्तलिपि नेपाल के राज-पुस्तकालय में है। इसके लिपिक **मुरारिकण्ठ** के पुत्र **भगीरथ** हैं और लिपिकाल ल० सं० ४९५ (सन् १६१४ ई०) है। यह प्रति खण्डित रूप में ही उपलब्ध है। इसकी प्रतिलिपि बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के पास है। इसे इस ग्रन्थ में प्रति 'क' का नाम दिया गया है। नेपाल के राज-पुस्तकालय से ही उपलब्ध एक अन्य हस्तलिपि की फोटो-कॉपी नेपाल के महाराज की कृपा से सन् १९४१ ई० के आसपास **डॉ० जयकान्त मिश्र** को मिली। डॉ० जयकान्त मिश्र ने उसे सम्पादित कर सन् १९६१ ई० में प्रकाशित कराया। इस प्रति के लिपिक भी मुरारि कण्ठ के पुत्र भगीरथ ही हैं और लिपिकाल भी वही है। यह प्रति तालपत्र पर १२×२= २४ पृष्ठों में है। इसे यहाँ प्रति 'ख' का नाम दिया गया है। यद्यपि दोनों प्रतियाँ एक ही व्यक्ति की लिखी हुई हैं और पाठालोचन की दृष्टि से उनका उतना महत्त्व नहीं है, तथापि पाठ-निर्धारण में वे एक-दूसरी की सहायिका हैं।

खण्डित प्रति, अर्थात् प्रति 'क' की प्रतिलिपि तो मुझे देखने को नहीं मिली है, किन्तु 'प्राचीन भाषानाटक' (पृ० २०५–२०९) में उसके मुद्रित पाठ देखने को मिले हैं। प्रति 'ख' की फोटो-कॉपी डॉ० जयकान्त मिश्र ने अपने संस्करण में दी है। उक्त फोटो-कॉपी के उपान्त (आरम्भ के अधिक) और मध्य के छिद्रवाले अंश इतने धुँधले हैं कि उन्हें किसी तरह पढ़ा ही नहीं जा सकता। डॉ० जयकान्त मिश्र ने उक्त प्रति के पाठ-निर्धारण में जो परिश्रम किया है, तदर्थ वे धन्यवाद के पात्र हैं। किन्तु, पाठ-निर्धारण की समस्या का सन्तोषजनक समाधान अबतक नहीं हो सका है। **डॉ० प्रतापनारायण झा** ने भी नेपाल जाकर मूलप्रति को पढ़ा है। मूल प्रति का विवरण देते हुए उन्होंने लिखा है :

"तालपत्र पर लिखित प्रस्तुत नाटक के बीच में—दो लकड़ी के पृष्ठों के बीच—पत्रों को सुरक्षित रखने के लिए छेद किया गया है। अनेक बार खोलने तथा बन्द करने के कारण छेद कुछ बड़ा हो गया है, जिससे आसपास के अक्षर घिस जाने से अस्पष्ट हो गये हैं। 'पत्रों' के दोनों किनारों को कीड़ों ने नोच-खसोटकर जर्जरित बना दिया है, अतएव दोनों किनारे के अक्षर भी अस्पष्टता के कारण ठीक से पढ़े नहीं जाते।"[1]

---

१. मैथिली नाटक का उद्भव और विकास, पृ० ९१

डॉ० प्रतापनारायण झा ने भी कुछ नये पाठ सुझाये हैं, यद्यपि उनके द्वारा सुझाये गये पाठों की संख्या बहुत कम है और उनका सम्बन्ध प्रारम्भ के कुछ पृष्ठों से ही है। इनमें से अधिकांश अनुमान पर ही आधृत हैं, किन्तु अर्थ की दृष्टि से संगत हैं। ऐसा लगता है कि उन्होंने भी मूल प्रति को आद्योपान्त पढ़ने का विशेष परिश्रम नहीं किया, अन्यथा कुछ और अच्छे पाठ निर्धारित किये जा सकते थे। ऐसे स्थलों की चर्चा ग्रन्थ में यथास्थान की गई है।

उक्त प्रति के सम्बन्ध में जो बात सबसे अधिक खटकनेवाली है, वह है उसकी नान्दी। डॉ० जयकान्त मिश्र द्वारा सम्पादित 'गोरक्षविजय' की फोटो-कॉपी के प्रथम पत्र का प्रथम पृष्ठ आवरण-पृष्ठ है। प्रथम पत्र के दूसरे पृष्ठ में ही दो श्लोकों की नान्दी है। ये दोनों श्लोक वही हैं, जो ज्योतिरीश्वर के 'धूर्त्तसमागम' की नान्दी में हैं। विद्यापति जैसे कवि अपने पूर्ववर्त्ती कवि के श्लोकों को तद्वदेव अपने ग्रन्थ में ले लें, यह सोचा भी नहीं जा सकता। वास्तविकता यह है कि उक्त प्रथम पत्र 'गोरक्षविजय' का नहीं, अपितु 'धूर्त्तसमागम' का है और भ्रमवश 'गोरक्षविजय' के साथ जुड़ गया है। नेपाल के राज-पुस्तकालय में जहाँ बहुत-सारी हस्तलिपियाँ एक साथ गड्ड-मड्ड रखी हुई हैं, वहाँ एक हस्तलिपि के पत्र का दूसरी हस्तलिपि के पत्र के साथ मिल जाना असम्भव नहीं है। लेखन-शैली से भी इसकी पुष्टि होती है। 'गोरक्षविजय' के प्रथम पत्र की लिपि और बाद के पत्रों की लिपि में स्पष्ट अन्तर है। प्रथम पत्र के अक्षर मोटे और भद्दे हैं, किन्तु अन्य पत्रों के अक्षर बारीक और सुडौल हैं। प्रथम पत्र उस व्यक्ति का लिखा हुआ नहीं है, जिसके अन्य पत्र लिखे हुए हैं। इस प्रकार, यह स्पष्ट है कि प्रथम पत्र 'धूर्त्तसमागम' का है न कि 'गोरक्षविजय' का। तो फिर यह मानना पड़ेगा कि 'गोरक्षविजय' की नान्दी जिस पत्र में रही होगी, वह अबतक मिल नहीं सका है।

सबसे बड़ी गड़बड़ी लिपिक ने प्रस्तावना लिखने में की है। प्रति 'ख' के पृष्ठ २ (ख) में सूत्रधार ने शरत्-समय के उपलक्ष्य में नटी से नृत्य करने के लिए कहकर संस्कृत-श्लोकों में शरत् का वर्णन किया है। इस क्रम में एक श्लोक (पिबति तमः शशिलेखा........) तो यथास्थान है, किन्तु दूसरा (प्रफुल्ल-सप्तच्छदगन्धलुब्धा........) बहुत दूर पृष्ठ ३ (ख) में है। दोनों श्लोक शरद्वर्णनपरक हैं और उन्हें साथ-साथ होना चाहिए। प्रति 'क' में ऐसा ही है। किन्तु, प्रति 'क' में प्रथम श्लोक के बाद है, नाट्यनिर्देश–'नेपथ्ये कलकलः', जिसे प्रस्तावना के अन्त में होना चाहिए। इसके बाद गीत (२) है, जो वस्तुतः नाटक का आरम्भिक गीत है। बाद के तृतीय पृष्ठ के आरम्भ में ही लिखा हुआ है, 'प्रस्तावना'। इसे 'इति प्रस्तावना' ही समझा जा सकता है, किन्तु यह इसका उपयुक्त स्थल नहीं प्रतीत होता है; क्योंकि अभी नटी का नृत्य हुआ ही नहीं है। उक्त नाट्यनिर्देश के बाद संस्कृत में दूसरा नाट्यनिर्देश है : '........काननीपादेनानुगम्यमानो गोरक्षः........।' स्पष्ट है कि यह भी अपने स्थान पर नहीं है। इसके बाद नटी का नृत्य है और गीत-सं० ३ है, जिसमें शरद्वर्णन के साथ गोरखनाथ और काननिपा का उल्लेख है। इन सबों के

बाद पृष्ठ ३(ख) में शरद्वर्णनपरक दूसरा श्लोक ('प्रफुल्लसप्तच्छदगन्धलुब्धा') है। यह श्लोक भी यहाँ गोरखनाथ के द्वारा कहलाया गया है, जो उचित नहीं प्रतीत होता। ऐसा लगता है कि अल्पज्ञ लिपिक ने स्मरण-शक्ति के आधार पर ही उलटा-सीधा जो मन में आया, उसे ही प्रस्तावना के रूप में उतार दिया है। सच तो यह है कि लिपिक अत्यधिक सामान्य कोटि का है। उसे अक्षर-ज्ञान है, इतना-भर ही कहा जा सकता है। संस्कृत-प्राकृत का उसे ज्ञान ही नहीं है। साथ ही वह असावधान लिपिक भी है। 'गोरक्षविजय' के पाठ कितने भ्रष्ट हैं, इसका अनुमान निम्नलिखित उदाहरण से लगाया जा सकता है :

"श्रीविद्यापति सत्कवीश्वरस्य गोरक्षविजयनामनाटकनटनाथ महाराजाधिराज श्रीमच्छिवसिंहदेव पादैः..........." जैसे अतिप्रसिद्ध वाक्य के स्थान पर प्रति 'ख' का उपलब्ध पाठ है :

"श्री विद्यापति शत्कविश्वस्य गोरक्षविजयनामनाटक नटनाथ महाराजाधिराज श्रीमत्सिवसिंहदेवपादैः........।" 'ख' के स्थान पर 'ष' (शशिलेषा, ह० लि० पृ० २-ख), 'य' के स्थान पर 'ज' (खलभूजिष्ठा, ह० लि०, पृ० ३-क) और 'ब' के स्थान पर 'व' (विभेमि, ह० लि०, पृ० ४-ख) आदि हस्तलिपि की सामान्य त्रुटियाँ हैं। 'उ' के स्थान पर 'ल' (घोल, ह० लि०, पृ० ५-क), 'न' के स्थान पर 'ल' और 'ल' के स्थान पर 'न' (लिलोपन, ह० लि०, पृ० ७-ख) के प्रयोगों को तत्कालीन मैथिली-भाषा के उच्चारण-वैशिष्ट्य के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

'गोरक्षविजय' में अन्तिम गीत की संख्या २५ दी हुई है। इसी आधार पर प्रति 'ख' के सम्पादक डॉ० जयकान्त मिश्र ने 'गोरक्षविजय' में गीतों की संख्या २५ मानी है। किन्तु 'गोरक्षविजय' में २६ गीत हैं। हस्तलिपि में सभी गीतों की संख्या नहीं दी हुई है, जैसे द्वितीय गीत में ही संख्या का उल्लेख नहीं है। किन्तु, परवर्त्ती गीत में ३ संख्या दी हुई है। पुनः आठवें गीत में न तो राग का उल्लेख है और न संख्या ही दी हुई है। नवम गीत में भी राग का उल्लेख नहीं है, किन्तु ९ संख्या दी हुई है। गड़बड़ी १६वें गीत से शुरू हुई है। यह गीत बरडी राग में है। इस गीत के बीच में ही मलारी राग का शीर्षक आ गया है। इससे यह भ्रम हो सकता है कि पूर्व और अपर खण्ड दो गीत हैं। वस्तुतः, यह एक ही गीत है। अन्तिम दो गीतों की संख्या है २४ और २५। पन्द्रहवें और २४वें गीतों के बीच के गीतों में संख्या नहीं दी हुई हैं। मध्यवर्त्ती गीतों की संख्या ९ है। फलस्वरूप, २४वाँ गीत २५वाँ है और २५वाँ गीत २६वाँ है।

दोनों उपलब्ध प्रतियों के (जिनमें एक खण्डित ही है) एक ही लिपिक के द्वारा लिखित होने के कारण सर्वांगीण पाठालोचन तो हो नहीं सकता, तथापि जहाँ जो पाठ उपयुक्त अथवा अनुपयुक्त जँचे हैं, उनकी चर्चा ग्रन्थ में यथास्थान टिप्पणियों के रूप में की गई है। यहाँ कतिपय प्रमुख तथ्यों की ही चर्चा अपेक्षित है।

सतरहवें गीत में मत्स्येन्द्रनाथ ने पुत्र के जिला दिये जाने पर अपने हर्षोद्‌गारों को प्रकट किया है। किन्तु, प्रति 'ख' में इस गीत में निम्नलिखित पंक्तियाँ आई हैं, जो अर्थ की दृष्टि से खटकनेवाली हैं :

'गोरखनाथ से तोहर हमे सीख।
सेवाँ अएलाहुँ देह असीख।।'

वास्तविकता यह है कि गोरखनाथ मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य थे और वही उनकी सेवा में आये थे। किन्तु, उपर्युक्त पंक्तियाँ विपरीत अर्थ देती हैं। हस्तलिपि के उक्त अंश के बहुत स्पष्ट नहीं रहने के कारण उक्त पंक्तियों का निम्नलिखित पाठान्तर स्वीकृत किया गया है :

'गोरखनाथ से तोह हमर सीख।
सेवा आएलाहु देइ असीख।।'

इस पाठान्तर से मत्स्येन्द्रनाथ की उक्ति में जो असंगति है, उसका समाधान हो जाता है। इस नये पाठ का समर्थन २६वें गीत की निम्नलिखित प्रथम दो पंक्तियों से भी होता है :

'तञे मोर गोरख प्रथमक सीख।
सेवा अएलाहु देइ असीख।।'

प्रति 'ख' में १७वें गीत के बाद संस्कृत में नाट्य-निर्देश है : 'राजा परमेवं कथयति' और उसके बाद दो गीत हैं। स्वभावतः, वे दोनों गीत राजा, अर्थात् मत्स्येन्द्रनाथ के द्वारा ही गाये गये माने जा सकते हैं, किन्तु प्रश्न यह है कि यदि तीनों गीत, १७वें, १८वें और १९वें मत्स्येन्द्रनाथ के ही हैं, तो १७वें और १८वें गीत के बीच 'राजा परमेवं कथयति' की क्या संगति है? हस्तलिपि में १८वें गीत के शीर्षक 'कोराव' से पूर्व 'काकपद' का चिह्न है और सबसे नीचे उस चिह्न के साथ एक संस्कृत-वाक्य है, जिसे प्रति 'ख' के सम्पादक ने 'राजा परमेवं कथयति' पढ़ा है, यद्यपि इसका उत्तरार्द्ध अर्थात् '........मेवं कथयति' ही किसी तरह से पढ़ा जा सकता है। उक्त वाक्य का पूर्वार्द्ध कितना अस्पष्ट है, इसका प्रमाण यही है कि सम्पादक ने टिप्पणी में इसे नौ अक्षरों का वाक्य माना है, यद्यपि 'राजा परमेवं कथयति' में दस अक्षर हैं। नाट्य-निर्देश के प्रथम पद में तीन अक्षर दिखाई देते हैं, जो इतने धुँधले हैं कि पढ़े नहीं जा सकते। सम्भव है, वह 'गोरक्षः' हो। इस सम्भावना के आधार पर इस ग्रन्थ में 'गोरक्षः परमेवं कथयति' यही पाठ स्वीकार किया गया है। 'राजा परमेवं कथयति' होने पर उसे लिपिक अथवा किसी परवर्त्ती संशोधक का प्रमाद ही माना जा सकता है। १८वें और १९वें गीतों के अर्थों से भी इसकी पुष्टि होती है। १८वें गीत की प्रथम पंक्ति है : 'गुरु हे जे छल पाटन गिरि।' स्पष्ट है कि यहाँ मत्स्येन्द्रनाथ को सम्बोधित किया जा रहा है, न कि गोरखनाथ को। १९वें गीत में भी जिसे सम्बोधित किया गया है, उससे कहा जा रहा है : 'तइअओ संसार न भेलाह पारे' (तब भी तुम संसार के पार नहीं जा सके) और 'फोअह फन्द' (फन्दा फोलो) आदि।

गोरखनाथ की उक्ति मानने पर ही इन पंक्तियों की सार्थकता है। १९वें गीत के बाद के संस्कृत-वाक्य में भी मत्स्येन्द्रनाथ को ही सम्बोधित किया गया है : "आरे मत्स्येन्द्रनाथ गुरो अद्यापि स्वात्मानं न स्मरसि।" 'प्राचीन भाषानाटक' (पृ० ७४९) में इन दोनों गीतों को मत्स्येन्द्रनाथ की उक्ति के रूप में ही स्वीकार किया गया है। इसे भ्रम ही समझना चाहिए।

सभी गीतों में रागों का उल्लेख तो नहीं ही है, किन्तु कहीं एक गीत के मध्य ही राग का उल्लेख हो गया है; जैसे १६वें गीत के मध्य ही मलारी राग का उल्लेख। इससे एक ही गीत के दो होने का भ्रम हो जाता है। ऐसे स्थलों में भणिता की सहायता से ही निर्णय किया जा सकता है। यह लिपिक की भूल ही है और उसे यहाँ सुधार दिया गया है।

प्रति 'ख' में सम्पादक ने जहाँ नये पाठ सुझाये हैं, उन्हें यथासम्भव परीक्षण के बाद ही स्वीकृत अथवा अस्वीकृत किया गया है। १६वें गीत में मत्स्येन्द्रनाथ के पुत्र का नाम **'बौद्धनाथ'** दिया गया है। प्रति 'ख' के सम्पादक ने 'बौद्धनाथ' के 'बौ' के स्थान पर 'नौ' पाठ सुझाया है। **नौद्धनाथ** शब्द अनर्थक तो है ही, उक्त गीत के बाद ही संस्कृत-वाक्यों में 'बौद्धनाथ' शब्द आया है। १७वें गीत की एक पंक्ति है : "अन्त भए उगि गेल पुनिम क चन्द।' इसे प्रति 'ख' में पढ़ा गया है : 'अन्त भए उगि गेल पुनि मकय (र?)न्द।' स्पष्ट है कि 'पुनि' के अलग पढ़े जाने के कारण ही अन्तिम खण्ड को 'मकरन्द' के रूप में सुधारने का प्रयास किया गया है। डूबकर उगने की बात चन्द्रमा के सम्बन्ध में ही कही जा सकती है। २०वें गीत की प्रथम पंक्ति है : "हाथि घोलि पएदल निते कोटि घाव।" इसे प्रति 'ख' में पढ़ा गया है : 'हाथि खेलि पएदल........।' वस्तुतः, जिसे 'खेलि' पढ़ा गया है वह 'घोलि' ही है। ओकार का एक हलका चिह्न वहाँ विद्यमान है। इसी गीत की एक पंक्ति है : "तति खने बिजुरि यति खने मेघ।" यहाँ भी प्रति 'ख' में 'बिजुरि' को **'बिहुरि'** पढ़ा गया है, जो अनर्थक और असंगत है।

मत्स्येन्द्रनाथ-विषयक अन्य कथाएँ :

विद्यापति के 'गोरक्षविजय' की कथावस्तु निम्नलिखित है :

मत्स्येन्द्रनाथ योगाभ्यास छोड़कर कदली-देश के पाटन नगर में राज्यसुख भोग रहे हैं और रानियों के साथ विहार कर रहे हैं। गोरखनाथ मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य हैं। पथभ्रष्ट गुरु को पथ पर लाना शिष्य का काम है। अतएव, गोरखनाथ काननिपा के साथ गुरु की खोज में निकले हैं। भिक्षाटन करते हुए ये पाटन नगर के राजद्वार पर पहुँचते हैं, किन्तु द्वारपाल इन्हें प्रवेश नहीं करने देता। फलस्वरूप, द्वारपाल से इनकी कहा-सुनी होती है। इसी बीच **महामति** नामक महामन्त्री का प्रवेश होता है। वे बताते हैं कि राजा ने राज्य-कार्य उनके हाथों में सौंप दिया है और योगियों का प्रवेश निषिद्ध कर दिया है। फिर भी, वे द्वारपाल से योगियों के आगमन की सूचना राजा को देने के लिए कहते हैं। द्वारपाल महामन्त्री को बताता है कि राजा रानियों के साथ विहार-रत हैं।

अन्तःप्रवेश असम्भव जान दोनों योगी तेलंगदेश के नटों का वेश धारण करते हैं। प्रतिहारी द्वारा नटों के आगमन की सूचना मिलने पर राजा उन्हें बुलवाते हैं और नृत्य की आज्ञा देते हैं। नृत्य देख राजा मुग्ध हो जाते हैं। इसी बीच यौगिक क्रिया के क्रम में राजा के पुत्र बौद्धनाथ की मृत्यु हो जाती है। राजा उन दोनों नटों को प्राणदण्ड की आज्ञा देते हैं। अन्त में वे राजा के मृत पुत्र को जिला देते हैं। राजा आनन्द और आश्चर्य से एक साथ ही अभिभूत हो जाते हैं। उपयुक्त समय जान गोरखनाथ अपना परिचय देते हैं और अपनी यात्रा का उद्देश्य बताते हैं। गोरखनाथ राजा से भोगशक्ति छोड़ने के लिए कहते हैं। रानियाँ राजपद पर बने रहने के लिए ही उनसे अनुनय-विनय कर रही हैं। राजा वास्तविकता को समझ तो रहे हैं, किन्तु अन्तिम निर्णय करने में अपने को असमर्थ पा रहे हैं। गोरखनाथ उनकी भर्त्सना करते हैं। अन्त में राजा सब-कुछ छोड़ गोरखनाथ के साथ विदा होते हैं।

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी[1] ने मत्स्येन्द्रनाथ-विषयक पाँच कथाओं के सार प्रस्तुत किये हैं। यह उल्लेखनीय है कि इनमें विद्यापति के 'गोरक्षविजय' की उपर्युक्त कथा नहीं है। विद्यापति के 'गोरक्षविजय' की कथा का सर्वाधिक साम्य द्विवेदीजी द्वारा उद्धृत पाँचों कथाओं में से बँगला-कथा से ही है। यों योगिसम्प्रदायाविष्कृति की कथा और नाथ-चरित्र की कथा में भी मत्स्येन्द्रनाथ के योगभ्रष्ट होकर स्त्रीरत होने का वर्णन मिलता है। 'कौलज्ञाननिर्णय' की कथा सर्वथा भिन्न है। यही बात नेपाली कथा के सम्बन्ध में भी है।

डॉ० सुकुमार सेन[1] ने सहदेव चक्रवर्त्ती के अनिलपुराण में और लक्ष्मण के अनिलपुराण में (१८वीं शताब्दी का मध्यभाग) मीननाथ-गोरक्षनाथ की कथा के पाये जाने का उल्लेख किया है। साथ ही, उन्होंने १८वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में रचित 'गोरक्षविजय' नामक कई लोक-कथाओं का उल्लेख किया है। डॉ० सेन के अनुसार 'गोरक्ष-विजय' के कम-से-कम तीन रचयिता अवश्य थे—भीमसेन राय, श्यामदास सेन और फयजुल्ला। श्यामदास सेन और फयजुल्ला की कथाओं में कोई भेद नहीं है। बँगला 'गोरक्षविजय' की कथा बड़ी लम्बी है और उसके कई खण्ड किये जा सकते हैं।

प्रथम खण्ड : शिव और पार्वती के बीच ब्रह्मज्ञान-विषयक संवाद हो रहा है और मीननाथ उसे चोरी से सुन रहे हैं। इस अपराध पर मीननाथ को ब्रह्मज्ञान भूल जाने का शाप दे दिया जाता है।

द्वितीय खण्ड : पार्वती मोहिनी-रूप धारण कर मीननाथ, गोरखनाथ, हाड़िफा (जालन्धरिनाथ) और कानफा की बारी-बारी से परीक्षा लेती हैं। गोरखनाथ को छोड़कर सभी डिग जाते हैं। पार्वती मीननाथ को ज्ञान भूलकर कदली-देश में स्त्रियों के साथ कामरत होने का शाप देती हैं।

---

१. नाथ-सम्प्रदाय, पृ० ४८—६१

तृतीय खण्ड : गोरखनाथ ध्यानस्थ बैठे हैं। ऊपर से कानफा उड़ते हुए जा रहे हैं। गोरखनाथ अपनी खड़ाऊँ ऊपर फेंकते हैं और कानफा नीचे आ जाते हैं। क्षुब्ध कानफा व्यंग्य करते हैं कि बड़े सिद्ध बने हो। कदली-देश में स्त्रियों के साथ विहार में रत अपने गुरु का तो उद्धार करो। उनकी आयु भी अब तीन ही दिन बाकी है। गोरखनाथ भी व्यंग्य करते हैं कि तुम भी अपने गुरु हाड़िफा का उद्धार करो, जो रानी मयनामती के पुत्र गोपीचन्द के द्वारा भिट्टी में गड़वा दिया गया है। इस प्रकार, दोनों अपने-अपने गुरु के उद्धार के लिए चल पड़ते हैं।

चतुर्थ खण्ड : गोरखनाथ पहले तो यमराज के यहाँ जाकर गुरु की आयु बढ़वाते हैं। बाद में गुरु के उद्धार के लिए अपने शिष्य लंग और महालंग के साथ कदली-देश की ओर चल पड़ते हैं। एक सरोवर के तट पर कदली-देश की एक नारी से इन्हें पता चलता है कि मीननाथ सोलह सौ सेविकाओं से परिवृत मंगला और कमला नामक पट-रानियों के साथ क्रीडारत हैं। वहाँ जाने पर योगी को भी प्राणदण्ड मिलेगा। हाँ, नर्त्तकी वहाँ जा सकती है। अन्त में नर्त्तकी बनकर गोरखनाथ राजद्वार पर पहुँचते हैं। द्वारपाल के मुख से नर्त्तकी के अपूर्व सौन्दर्य की बात सुनकर रानियाँ उन्हें भीतर आने से रोक देती हैं। गोरखनाथ द्वार से ही मर्दल-ध्वनि सुनाते हैं। मीननाथ नर्त्तकी को बुला लेते हैं। गोरखनाथ मर्दल-ध्वनि के द्वारा ही गुरु को आत्मबोध कराते हैं :

नाचेन्त ये गोर्खनाथ घाघरेर रोले।
काया साध काया साध मन्दिराएँ बोले ॥

मीननाथ के पुत्र बिन्दुनाथ को लेकर रानियाँ मीननाथ को विचलित करना चाहती हैं, किन्तु गोरखनाथ बिन्दुनाथ को मारकर और पुनः जिलाकर मीननाथ को विचलित नहीं होने देते। कदली-देश की नारियाँ गोरखनाथ के प्राण लेने का षड्यन्त्र करती हैं, किन्तु गोरखनाथ के शाप से वे चमगादड़ हो जाती हैं। अन्त में मीननाथ, उनके पुत्र बिन्दुनाथ और गोरखनाथ कदली-देश से विदा होते हैं।

प्रथम खण्ड की कथा का परवर्त्ती कथा से कोई सम्बन्ध नहीं प्रतीत होता। मीननाथ को ब्रह्मज्ञान भूलने का शाप तो मिल ही गया था, दुबारा शाप देने की क्या आवश्यकता थी। द्वितीय और तृतीय खण्ड की कथा में भी जालन्धरिपा और उनके शिष्य कानफा की कथा जुड़ी हुई प्रतीत होती है। बँगला-'गोरक्षविजय' के अन्तिम खण्ड की कथा और विद्यापति के 'गोरक्षविजय' की कथा कुछेक सामान्य भेदों को छोड़कर एक ही हैं। दोनों में निम्नलिखित भेद हैं :

१. विद्यापति के 'गोरक्षविजय' में, गोरखनाथ और काननिपा योगी के वेश में कदली-पुर जाते हैं। बँगला-'गोरक्षविजय' में गोरखनाथ अपने शिष्य लंग और महालंग के साथ पहले तो ब्राह्मण-वेश में, किन्तु बाद में योगी-वेश में कदली-देश जाते हैं।

---

१. बाँगला साहित्येर इतिहास, पृ० ७५१

२. विद्यापति के 'गोरक्षविजय' में राजा के मन्त्री के द्वारा राजकार्य का वर्णन कराया गया है। बँगला-'गोरक्षविजय' में ऐसा कुछ नहीं है।

३. विद्यापति के 'गोरक्षविजय' में मत्स्येन्द्रनाथ के पुत्र का नाम है, बौद्धनाथ। बँगला-'गोरक्षविजय' में उसका नाम है बिन्दुनाथ। विद्यापति के 'गोरक्षविजय' में बौद्धनाथ की मृत्यु यौगिक क्रियाओं के क्रम में हुई। किन्तु, बँगला-'गोरक्षविजय' में बिन्दुनाथ को पोखर में डुबाकर मारा गया है। विद्यापति के 'गोरक्षविजय' में आत्मबोध प्राप्त होने पर मत्स्येन्द्रनाथ गोरखनाथ के साथ चले जाते हैं। बँगला-'गोरक्षविजय' में उनका पुत्र बिन्दुनाथ भी साथ जाता है। साथ ही, वहाँ इतना और अधिक है कि रानियों ने गोरखनाथ के मरवाने का षड्यन्त्र भी किया, किन्तु गोरखनाथ के शाप से वे चमगादड़ हो गईं।

ये परिवर्त्तन विद्यापति ने नाटकीय दृष्टि से किये, ऐसा नहीं लगता। ऐतिहासिक दृष्टि से विद्यापति का 'गोरक्षविजय' ही प्राचीन है। ऐसा लगता है कि द्वितीय सहस्राब्दी के आरम्भ में प्राच्यभारत में मत्स्येन्द्रनाथ-गोरखनाथ की कथा विविध रूपों में प्रचलित रही होगी। यह सर्वथा स्वाभाविक है कि विद्यापति ने मिथिला में प्रचलित कथा को अपने नाटक का आधार बनाया हो। इससे यह सूचित होता है कि विद्यापति के समय में गोरखनाथ की कथा मिथिला में अधिक प्रचलित रही होगी। तभी तो विद्यापति ने गोरखनाथ की कथा पर नाटक लिखा, अन्यथा राधा-कृष्ण की प्रणय-लीला पर ही नाटक लिखते।

बँगला-'गोरक्षविजय' गीति-कथा है। इसलिए, छोटी-छोटी कथाओं का समावेश भी वहाँ सम्भव है। विद्यापति का 'गोरक्षविजय' नाटक है। इसलिए, उसमें कथा के प्रमुख अंशों का ही ग्रहण उचित है।

'गोरक्षविजय' के ऐतिहासिक पात्र :

मत्स्येन्द्रनाथ : 'गोरक्षविजय' के संस्कृत-अंशों में मत्सेन्द्रनाथ (मत्स्येन्द्रनाथ ?) और मैथिली-गीतों में '**मछेन्द्रनाथ**', '**मीननाथ**' और '**मिननाथ**' शब्दों का प्रयोग हुआ है। 'वर्णरत्नाकर' की सिद्ध-सूची के प्रथम सिद्ध मीलनाथ मत्स्येन्द्रनाथ ही हैं। 'वर्णरत्नाकर' की सूची में ही एक और सिद्ध (४१वाँ) का नाम 'मीन' है। ये अवश्य ही दूसरे मीननाथ होंगे।

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने मत्स्येन्द्रनाथ के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में जो विभिन्न मत लिखे हैं, उनमें यह मत अपेक्षाकृत अधिक समीचीन प्रतीत होता है कि असम के चन्द्र-द्वीप नामक ब्रह्मपुत्र नदी के मध्यवर्त्ती द्वीप में नवीं शताब्दी के आसपास मत्स्येन्द्रनाथ का जन्म हुआ था। कामरूप में उन्होंने साधना की थी। आरम्भ में वे योगमार्ग के प्रवर्त्तक थे। बाद में वे वाममार्ग में प्रवृत्त हो गये और कदली-देश में स्त्रियों के साथ भोग-विलास में रम गये।[1]

---

१. **नाथ-सम्प्रदाय**, पृ० ६०-६१

गोरक्षनाथ : विद्यापति के प्रस्तुत नाटक का नाम तो है 'गोरक्षविजय', किन्तु मैथिली-गीतों में 'गोरखनाथ' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'वर्णरत्नाकर' में 'गोरक्षनाथ' शब्द आया है। गोरखनाथ का भी समय लगभग वही है, जो मत्स्येन्द्रनाथ का है; क्योंकि ये उनके शिष्य थे। गोरखनाथ का जन्म पश्चिम भारत में कहीं हुआ था और ये जाति के ब्राह्मण थे। गोरखनाथ हठयोगी थे। हठयोग में ब्रह्मचर्य का अत्यधिक महत्त्व है। स्त्रियों के साथ क्रीडारत अपने गुरु मत्स्येन्द्रनाथ का इन्होंने उद्धार किया था। संस्कृत में रचित इनके नाम पर तीस पुस्तकें उपलब्ध हैं। पुरानी हिन्दी में लिखी इनकी ४० छोटी-मोटी रचनाओं का संग्रह डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने 'गोरखवानी' नाम से किया है।

कानिपा : मत्स्येन्द्रनाथ के उद्धार-कार्य में गोरखनाथ का साथ देनेवाले दूसरे योगी हैं, कानिपा। 'वर्णरत्नाकर' के तेरहवें सिद्ध कान्ह यही हैं। योगिसम्प्रदायाविष्कृति में इन्हें करणिपानाथ कहा गया है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है : "जालन्धरनाथ के शिष्य थे कृष्णपाद, जिन्हें 'कण्हपा', 'कान्हूपा', 'कानपा', 'कानफा' आदि नामों से लोग याद करते हैं।"[1] बँगला-'गोरक्षविजय' में इन्हें 'कानफा' कहा गया है। डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य के अनुसार, ये उड़ीसा के थे और जाति के जुलाहा थे। महाराज देवपाल (सन् ८०९–८४९ ई०) के समय में ये पण्डित भिक्षु थे।[2] 'गोरक्षविजय' में इनकी भूमिका साथ-भर देने की है।

गोरक्षविजय में प्रयुक्त स्थान-नाम :

विद्यापति ने 'गोरक्षविजय' में मत्स्येन्द्रनाथ के राज्य-स्थान के बारे में कदलीपुर—पाटननगर का उल्लेख किया हैं। बँगला-'गोरक्षविजय' में कदली-देश का उल्लेख हुआ है। वहाँ राजधानी का नाम नहीं है। 'नाथचरित्र' में कदली-वन नाम आया है। योगिसम्प्रदायाविष्कृति में सदृश प्रसंग में 'त्रियादेश' शब्द का प्रयोग हुआ है और ग्रन्थकार ने इसकी व्याख्या की है, सिंहलद्वीप। 'महाभारत' में गन्धमादन पर्वत के शिखर पर स्थित कदली-वन का वर्णन आया है :

'सुरम्यं कदलीषण्डं बहुयोजनविस्तृतम्।' (वनपर्व, १४६।५१)

इससे यह स्पष्ट है कि कदली-वन केलों का वन था। यहीं हनुमान्‌जी रहते थे, जिन्होंने भीम से यह बताया था कि इसके बाद अगम्य पर्वत है, जहाँ सिद्धि प्राप्त किये विना कोई जा नहीं सकता। (श्लोक, ९२-९३)। 'महाभारत' का कदली-वन रहस्यप्रदेश-सा लगता तो है, किन्तु यह साधना-स्थल ही है, भोग-स्थल नहीं। अतएव, यह मत्स्येन्द्रनाथ का कदलीपुर अथवा कदली-देश नहीं हो सकता।

'महाभारत' का कदली-वन 'गोरक्षविजय' का कदलीपुर, गोरखनाथ की अन्य कथाओं में प्रयुक्त कदली-देश और 'पद्मावत' का 'कजरीवन' एक ही शब्द है और वह मूलतः तिब्बत-

---

१. नाथ-सम्प्रदाय, पृ० ८८।

२, उपरिवत्।

बर्मी भाषा का शब्द प्रतीत होता है। 'तिब्बत-बर्मी' भाषा में 'क' का अर्थ है हिम। 'क-ब-चन्' का अर्थ है, हिम से युक्त प्रदेश। इसी कारण, इसका एक अर्थ तिब्बत भी है। इसका विस्तृत अर्थ कश्मीर से भूटान तक का पर्वतीय क्षेत्र हो सकता है। 'कदली' इसका संस्कृतीकरण प्रतीत होता है।

'महाभारत' में 'स्त्रीराज्य' का उल्लेख हुआ है (वनपर्व, ५१।२५)। **मॉनियर विलियम्स** ने अपने शब्दकोश में उसे भूटान बताया है। 'स्कन्दपुराण' के माहेश्वरखण्ड—कुमारिकाखण्ड (अध्याय ३९) में नवखण्ड भारत के ७२ विभेदों और उनमें विद्यमान ग्रामों की संख्या बतलाई गई है। इन विभेदों में एक है 'स्त्रीराज्य', जिसके अन्तर्गत विद्यमान ग्रामों की संख्या है, पाँच लाख। **प्रो० दिनेशचन्द्र सरकार** इसे मध्ययुग में किया गया प्रक्षिप्तांश मानते हैं। 'स्त्रीराज्य' पर उन्होंने निम्नलिखित टिप्पणी दी है :

"Strīrājya seems to have been a woman dominated state in the Himalayan region. It may be noted that in every Bihal (vihāra) of the Newars of Nepal, a young girl (Kumārī) having no scar on her body is worshipped as the living form of Kālī or Durgā........The Newars believe that the valley of Nepal belongs to the Kumārī and therefore every year the King has to receive from her a fresh mandate for ruling the country."[1]

श्रीमातृकाप्रसाद कोइराला ने नेपाल की उपत्यका में बसी थारू-जाति के सम्बन्ध में लिखा है : "इसमें शक नहीं कि राना थारुओं में स्त्री का विशेष स्थान है। उनकी कुछ परम्पराएँ ही ऐसी हैं, जिनके अनुसार पुरुष उनका अधिक सम्मान करते हैं। प्राचीन वाङमय में स्त्री-राज्य (त्रिया-राज्य) का वर्णन मिलता है, पर उसकी भौगोलिक स्थिति क्या थी, पता नहीं।"[2]

वस्तुतः, कदली-देश की जो सीमा-रेखा ऊपर बताई गई है, वही स्त्री-राज्य अथवा त्रियादेश की भी सीमा-रेखा है। उपर्युक्त भौगोलिक क्षेत्र के बहुत-सारे स्थानों में बहुपति-प्रथा प्रचलित थी। यही कारण है कि इन्हें त्रियादेश कहा गया है। इस प्रकार, कदली-देश और त्रियादेश अथवा त्रिया-राज्य सामान्यतः एक ही माने जा सकते हैं। 'गोरक्षविजय' का कदलीपुर उक्त भौगोलिक क्षेत्र का ही नेपाल हो सकता है; क्योंकि पाटन नगर का साथ उल्लेख हुआ है।

पाटन नगर : 'गोरक्षविजय' का पाटन नगर नेपाल का प्रसिद्ध पाटन नगर ही हो सकता है। इसी का प्राचीन नाम है ललितपुर। यह उल्लेखनीय है कि नेपाल की प्राचीन राजधानी पाटन नगर में अब भी मत्स्येन्द्रनाथ का मन्दिर है। यह मन्दिर सन् १४०८ ई०

१. **Studies in the Geography of Ancient and Medieval India, p. 261.**

२. प्रफुल्लकुमार सिंह 'मौन' : **थारू-लोकगीत**, भूमिका, पृ० १०-११।

का बना हुआ है। यहाँ मत्स्येन्द्रनाथ की एक काष्ठमूर्त्ति है। यहाँ प्रतिवर्ष रथयात्रोत्सव के समय मेला लगता है। बौद्ध और हिन्दू दोनों मत्स्येन्द्रनाथ की पूजा करते हैं।[1]

नाट्यालोचन :

यह स्पष्ट है कि 'गोरक्षविजय' की उपलब्ध प्रति लेखक की नहीं, अपितु प्रयोक्ता की प्रति है। इसके प्रमाण तो नाटक में हैं ही। यों, इसका सबसे बड़ा प्रमाण है, प्रस्तावना, जिसमें मनमाने उलट-फेर किये गये हैं। इसका विस्तृत विवेचन 'गोरक्षविजय की उपलब्ध प्रतियाँ और उनके पाठ' शीर्षक के अन्तर्गत किया जा चुका है।

कथावस्तु : 'गोरक्षविजय' से सम्बद्ध परम्परागत मूलकथा इतनी ही प्रतीत होती है कि नाथ-सम्प्रदाय के आद्य आचार्य मत्स्येन्द्रनाथ के योगमार्ग छोड़कर कदली-देश में राजा बनकर रानियों के साथ क्रीडारत हो जाने पर उनके प्रधान शिष्य गोरखनाथ ने उन्हें पुनः योगमार्ग में प्रवृत्त कराया। कदली-देश में राज्य करते हुए मत्स्येन्द्रनाथ को आठ-दस वर्ष तो हो ही गये होंगे; क्योंकि उनके पुत्र की आयु आठ-दस वर्ष के आसपास ही रही होगी। मत्स्येन्द्रनाथ के पुत्र बौद्धनाथ की मृत्यु की कथा भी परम्परागत ही है। बँगला-'गोरक्ष-विजय' में गोरखनाथ नर्त्तकी के वेश में राजा के समक्ष उपस्थित होते हैं। विद्यापति ने उन्हें तेलंगदेश के नट के रूप में प्रस्तुत किया है। तेलंगदेश के नट की कल्पना विद्यापति की अपनी है। कर्णाट-राजवंश के मिथिला में प्रतिष्ठित होने पर दक्षिण-भारत के संगीत और नृत्य का प्रचार वहाँ हुआ था।

मत्स्येन्द्रनाथ के पुत्र बौद्धनाथ की मृत्यु की कथा बँगला-'गोरक्षविजय' में भी है। बँगला-'गोरक्षविजय' के रचयिताओं ने यदि यह अंश विद्यापति के 'गोरक्षविजय' से लिया होता, तो वहाँ मृत्यु का वर्णन उसी प्रकार का रहता। दोनों कथाओं के दो भिन्न स्रोत प्रतीत होते हैं। विद्यापति के 'गोरक्षविजय' में रंगमंच पर बौद्धनाथ की मृत्यु नहीं दिखाई गई है। क्या यह समझा जाय कि शास्त्र-वर्जित होने के कारण रंगमंच पर मृत्यु का दृश्य नहीं दिखाया गया ? वस्तुतः, हस्तलिपि के पृष्ठ ८ (क) और पृष्ठ ८ (ख) के बीच के कुछ अंश छूटे हुए प्रतीत होते हैं। बौद्धनाथ की मृत्यु का पता भी नहीं चलता और राजा दोनों नटों के प्राणदण्ड की आज्ञा दे देते हैं। पृष्ठ ८ (ख) के संस्कृत-गद्यांशों से यह पता चलता है कि राजा ने बौद्धनाथ की अन्तःशुद्धि के लिए दोनों नटों से कहा था। इसी प्रक्रिया में बौद्धनाथ की मृत्यु हो गई। विचारणीय यह है कि अन्तःशुद्धि के लिए योगियों को कहा जा सकता है, नटों को नहीं। दोनों ही योगी अभी राजा के समक्ष नट-रूप में ही हैं। यह त्रुटि सम्भवतः नाटककार की ही है। यह भी कम खटकनेवाली बात नहीं है कि राजा का पुत्र मारा गया, मारनेवालों को प्राणदण्ड की आज्ञा दे दी गई और राजा का पुत्र पुनः जीवित हो उठा; इतनी बड़ी घटना हो गई, किन्तु रानियों को इसका कोई पता नहीं। विद्यापति के 'गोरक्षविजय' में पुनर्जीवित हो जाने पर बौद्धनाथ अपनी माताओं के

---

१. द्र० हरिनन्दन ठाकुर : नेपाल : देश और संस्कृति, पृ० ७९।

साथ ही रह जाते हैं। बँगला-'गोरक्षविजय' में मत्स्येन्द्रनाथ का पुत्र भी पिता के साथ चल देता है। वास्तविक कथा क्या रही होगी, यह कहा नहीं जा सकता। यदि माँ के साथ बौद्धनाथ के छोड़ दिये जाने की कल्पना का श्रेय विद्यापति को दिया जाय, तो इसे उनकी सहृदयता का ही परिचायक मानना पड़ेगा।

विद्यापति के 'गोरक्षविजय' में संस्कृत अथवा प्राकृत-गद्य कम ही हैं। बौद्धनाथ की मृत्यु के वर्णन को छोड़कर उनका विशेष नाटकीय महत्त्व भी नहीं है। घटना-क्रम मैथिली-गीतों के द्वारा ही आगे बढ़ता है। इसी आधार पर इसे गीतिनाट्य माना गया है। ये गीत भी कई प्रकार के हैं, वर्णनात्मक, परिचयात्मक, संवादात्मक और भावाभिव्यंजक। 'गोरक्षविजय' में नान्दी के अतिरिक्त संस्कृत में दस श्लोक हैं, जिनमें तीन प्रस्तावना में हैं और एक भरतवाक्य है। शेष छह श्लोक ही नाटक में हैं। किन्तु, मैथिली-गीतों की संख्या २६ है, जिनमें तीन प्रस्तावना में हैं। शेष २३ गीत नाटक में हैं। गीत-सं० ४ में गोरखनाथ अपनी यात्रा का वर्णन करते हैं। गीत-सं० ५ और ६ में वे द्वारपाल से राजा को संवाद देने को कहते हैं। गीत-सं० ७ में हारकर वे काननिपा से नटवेश धारण करने के लिए कहते हैं। गीत-सं० ८ और ९ में कदलीपुर—पाटन नगर के राजा का वर्णन है। गीत-सं० १० में मन्त्री के आगमन का वर्णन है। गीत-सं० ११ में द्वारपाल योगियों के विषय में मन्त्री को सूचित करता है। गीत-सं० १२ में मन्त्री के द्वारा राजा का वर्णन है। गीत-सं० १३ में राजा का वर्णन है और गीत-सं० १४ में युवतियों के साथ राजा के विहार का वर्णन है। गीत-सं० १५ में प्रतीहारी के द्वारा राजा से तेलंगदेश के नटों के आगमन का निवेदन है। गीत-सं० १६ में नटों के नृत्य का और राजा के पुत्र बौद्धनाथ का वर्णन है। गीत-सं० १७ में मृत पुत्र के जिला दिये जाने पर राजा के हर्ष का वर्णन है। गीत-सं० १८ और १९ में गोरखनाथ ने संसार की क्षणिकता और मत्स्येन्द्रनाथ की भोगासक्ति का वर्णन किया है। गीत-सं० २० में रानियाँ राजा को मनाती हैं। गीत-सं० २१ में राजा के आत्मबोध का वर्णन है। गीत-सं० २२ में मत्स्येन्द्रनाथ यौवन की क्षणभंगुरता का वर्णन करते हैं। गीत-सं० २३ और २४ मत्स्येन्द्र-नाथ की उक्ति है। गीत-सं० २५ में गोरखनाथ द्वारा राजा की भर्त्सना है। गीत-सं० २६ में मत्स्येन्द्रनाथ का गोरखनाथ के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन है।

ये गीत नाटक में निर्दिष्ट विभिन्न पात्रों के द्वारा गाये गये हैं, किन्तु कुछ गीत ऐसे हैं, जिनके गानेवाले पात्रों का निर्देश नहीं है। यदि ऐसे गीत सूत्रधार द्वारा गाये जाते, तो उसका स्पष्ट उल्लेख रहता। गीत-सं० २ से पूर्व नाट्य-निर्देश है, 'नेपथ्ये कलकलः।' इस आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि यह गीत परदे के पीछे से गाया गया। यही बात कुछ अन्य परिचय-गीतों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। प्राचीन भाषा-नाटक[१] में गीत-सं० ८ और ९ को गायक-वृन्द (कोरस) के द्वारा गाया गया बताया गया है। गीत-सं० ८ में राजा मत्स्येन्द्रनाथ के प्रताप का वर्णन है। इसे द्वारपाल भी गा

१. पृ० ७४५।

सकता है। इसलिए, प्रस्तुत प्रबन्ध में द्वारपाल को इस गीत का गायक बताया गया है। गीत-सं० ९ की आरम्भ की पंक्तियाँ हैं :

देश देषि लो सुखे जाए।
ऐसन कठिन पुर कतहु न पाए ॥

गोरखनाथ की उक्ति मानने पर ही इसकी सार्थकता है। इसलिए, इस गीत का गायक गोरखनाथ को ही माना गया है। गीत-सं० १० में मन्त्री का परिचय और उनके आगमन की सूचना है। यह गीत गायकवृन्द के द्वारा गाया गया प्रतीत होता है। यही बात गीत-सं० १२ और १४ के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। 'प्राचीन भाषानाटक'[1] में गीत-सं० १८ और १९ को मत्स्येन्द्र की उक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। इसकी असंगति स्पष्ट है। इन दोनों गीतों के गायक गोरखनाथ हैं। गीत-सं० १८ की प्रथम पंक्ति है : 'गुरु हे जे छल पाटनगिरि।' मत्स्येन्द्रनाथ गोरखनाथ के गुरु थे, न कि गोरखनाथ मत्स्येन्द्रनाथ के।

'गोरक्षविजय' एक ही अंक का नाटक है। इसमें गोरखनाथ और कानिपा मन्त्री के प्रवेशकाल के अतिरिक्त सर्वदा मंच पर बने रहते हैं। गीत-सं० ११ में द्वारपाल मन्त्री से कहता है : **दुइ योगि आएल पलटिए गेल।** इससे सूचित होता है कि वे दोनों मंच पर से चले गये। उन्हें योगी का वेश बदलकर नटवेश धारण करना है। इसलिए, मंच पर से हट जाना उचित ही है। किन्तु, न तो उनके निष्क्रमण और न पुनः प्रवेश के नाट्य-निर्देश दियें गये हैं। यों, पात्रों का प्रवेश परदा हिलाकर होता है, जिसके लिए 'अपटीक्षेप' शब्द का प्रयोग हुआ है। पात्रों के निष्क्रमण के लिए भी नाट्य-निर्देश दिये गये हैं।

'गोरक्षविजय' के गीतों के एक-एक राग में बद्ध होने के कारण कार्य-व्यापार में शैथिल्य का आ जाना अस्वाभाविक नहीं है। बीच-बीच में संस्कृत-गद्य के संलाप के द्वारा इस कमी को दूर करने का प्रयास किया गया है। नाटक का उद्देश्य योग और भोग के अन्तर्विरोध के प्रदर्शन द्वारा योग की जीत दिखाना है। यह प्रदर्शन दार्शनिक प्रवचन के द्वारा जितनी अच्छी तरह से कविता में हो सकता है, उतनी अच्छी तरह से नाटक में नहीं हो सकता। इसे अच्छी तरह से कार्यरूप में परिणत करने के लिए ही बौद्धनाथ की मृत्यु और पुनर्जीवन के दृश्य दिखाये गये हैं। यही कारण है कि बौद्धनाथ की मृत्यु और उसके पुनर्जीवन के बीच संस्कृत-गद्य के माध्यम से सबसे अधिक संलाप कराये गये हैं। कार्य-व्यापार, अर्थात् घटनाओं की श्रृंखला का चरम स्थल यही है। इसके बाद घटनाओं का उतार ही है।

चरित्र-चित्रण : 'गोरक्षविजय' नाम ही यह बताता है कि नाटक के नायक गोरखनाथ ही हैं। गुरु का उद्धार-कार्य गोरखनाथ का लक्ष्य है। किस दूर देश से उन्होंने यात्रा की है, यह नहीं बताया गया है। भिक्षा उनका पाथेय है और वृक्ष हैं विश्राम-स्थल : **भिखिआ भोजन तरुवर वास** (गीत ४)। पाटन नगर के राजद्वार पर पहुँचने पर और

1. पृ० ७४९।

द्वारपाल द्वारा रोक दिये जाने पर वे हताश नहीं होते। नट का वेश धारण कर वे राजा के पास पहुँचते हैं और 'ताण्डव' तथा 'लास्य' दोनों प्रकार के नृत्य इतनी सफलता से करते हैं कि राजा मुग्ध होकर उन्हें अपने यहाँ रखना चाहते हैं। किन्तु, गोरखनाथ राजा के यहाँ रहने नहीं आये हैं, उन्हें अपने साथ लेने आये हैं। गोरखनाथ यह जानते थे कि भोग की क्षणिकता पर प्रवचन देकर मत्स्येन्द्रनाथ को योग की ओर मोड़ा नहीं जा सकता। इसलिए, वे किसी अप्रत्याशित घटना के द्वारा राजा को जड़-मूल से झकझोर देना चाहते थे। यह घटना थी बौद्धनाथ की मृत्यु। गोरखनाथ ने निश्चय ही यह नहीं सोचा होगा कि इतने से ही मत्स्येन्द्रनाथ विरक्त होकर उनके साथ चल देंगे, अपितु इस घटना के विपरीत प्रभाव की भी उन्होंने सम्भावना अवश्य ही की होगी। यह मानना भी असंगत नहीं होगा कि बौद्धनाथ को मारकर जिलाने की बात भी उन्होंने पहले से ही सोच रखी होगी। मृत्यु और पुनरुज्जीवन की घटना से मत्स्येन्द्रनाथ को एक साथ ही जीवन की क्षणभंगुरता और यौगिक शक्ति की महत्ता का बोध हो गया। अन्त में, गोरखनाथ को अपने उद्देश्य में सफलता मिलती है। गोरखनाथ वाममार्गियों की इस मान्यता के बहुत बड़े विरोधी हैं कि भोग और योग दोनों साथ चल सकते हैं। उन्होंने भोग और योग के विरोध की बात बारम्बार दुहराई है : **एहि ओहि परम विरोध।** यह उक्ति गरखनाथ के द्वारा तीन बार कहलाई गई है।

मत्स्येन्द्रनाथ : मत्स्येन्द्रनाथ योग से भोग की ओर गये हैं। इसलिए, उनके लिए निम्नलिखित पंक्तियाँ अक्षरशः ठीक हैं :

कि करिबो जप तप योगअ धेआँन।
कि करिबो दान कि परम गेआँन॥
भनइ विद्यापति युवति समाज।
बड़े पुण्ये पाइअ यौवन राज॥ (गीत १३)

इस प्रकार के व्यक्ति की आँखें उपदेश से खुल नहीं सकतीं। इसलिए, राजा के पुत्र की मृत्यु और पुनर्जीवन की कल्पना की गई है। मृत्यु से राजा विचलित तो हो जाते हैं, किन्तु वे राजा ही बने रहते हैं और नटों के प्राणदण्ड की आज्ञा देते हैं। मृत्यु की अपेक्षा पुत्र के पुनर्जीवन से उन्हें बड़ा झटका लगता है। पुराने योगी ठहरे। वे समझ गये कि यह गोरखनाथ का ही कार्य है। गोरखनाथ भी उन्हें 'गुरु' शब्द से सम्बोधित कर आत्म-परिचय के साथ संसार की परिवर्त्तनशीलता का वर्णन करते हैं और इस बात पर आश्चर्य प्रकट करते हैं कि वे संसार-सागर के पार जाकर भी पुनः लौटकर डूब कैसे गये। इन्हीं भावों से युक्त संस्कृत के दो श्लोक भी यहाँ गोरखनाथ के मुख से कहलाये गये हैं। संकट उपस्थित देख **महादेवियाँ** राजा के समक्ष भोग और ऐश्वर्य के आकर्षक चित्र खींचती हैं। किन्तु, राजा अब सँभल गये हैं और वे यह भी समझ गये हैं कि लावण्य दो-चार दिनों तक ही रहता है : **'नोनुम देखिअ दिवस दुइ चारी।'** (गीत २२)

यहाँ एक के बाद एक तीन गीत हैं, जिनमें राजा अपनी पूर्व-चेतना की ओर अग्रसर होते दिखाई देते हैं। राजा महादेवियों को उत्तर तो दे देते हैं : 'आसा छड़ने पुरुष स्वछन्द।' (गीत २३) किन्तु, पुत्र के मुँह की ओर उनकी दृष्टि जाती है, तो लगता है, आशा उन्हें छोड़ नहीं रही है। फलस्वरूप, ब्रह्मचारी, बैरागी गोरखनाथ का खीझना और राजा को फटकारना उचित ही है। यह फटकार मत्स्येन्द्रनाथ के लिए असह्य है और पुत्र-स्नेह को अन्तिम विदा देने से पहले वे पुत्र को समझाते-बुझाते हैं तथा गोरखनाथ को धन्यवाद देकर उनके साथ विदा हो जाते हैं। मत्स्येन्द्रनाथ के चरित्र में मानवीयता का यह स्पर्श किसी सामान्य कलाकार के द्वारा नहीं लाया जा सकता।

महादेवियाँ : 'गोरक्षविजय' में किसी नारी-विशेष का चरित्र-चित्रण नहीं किया गया है। हाँ, नारियों का समष्टि-चित्रण अवश्य मिलता है। ये नारियाँ राजभवन की हैं। वैभव और विलास में इनके जीवन पले हैं और यही इनके जीवन का लक्ष्य भी है। फलस्वरूप, इनकी सहोक्तियों में वैभव और विलास की प्रशस्ति ही गाई गई है। साथ ही पुरुष के विना नारियों की असहायावस्था का कवित्वपूर्ण वर्णन भी इनकी उक्तियों में मिलता है :

तति खने बिजुरि यति खने मेघ।
... ...
साएर छाड़ि कहा बस पानि। (गीत २०)

बौद्धनाथ : राजा के पुत्र बौद्धनाथ की अवस्था आठ-दस वर्ष के आसपास अवश्य रही होगी। उसकी भूमिका मरने और जीने-भर की ही रही है। उसका आद्यन्त मौन अवश्य ही खटकनेवाला है। प्रस्थान-काल में भी यदि उसके मुख से टूटी-फूटी भाषा में ही कुछ कहलवाया जाता, तो वह दृश्य और अधिक मार्मिक बन पड़ता।

काननिपा की भूमिका गोरखनाथ का साथ-भर देने की है।

मन्त्री : राजकवि होने के कारण विद्यापति ने मन्त्री को राज-कार्य करते देखा है। इसका प्रभाव मन्त्री के चरित्र-चित्रण पर भी पड़ा ही है। मन्त्री के परिचय-गीत की निम्नलिखित पंक्ति तत्कालीन राज्य-व्यवस्था पर भी प्रकाश डालती है :

धरम राखि धन भरिअ भण्डार। (गीत १०)

यहाँ विचारणीय यह है कि मन्त्री का चरित्र नाटक के किसी अभाव की पूर्त्ति नहीं करता। मन्त्री के विना नाटक ठीक ही था। ऐसा लगता है कि द्वारपाल से लड़-झगड़कर गोरखनाथ और काननिपा के चले जाने के बाद और नटवेश धारण कर पुनः उनके लौटने के अन्तराल में रंगमंच को एकमात्र द्वारपाल के साथ खाली छोड़ा नहीं जा सकता था। इसीलिए, मन्त्री को मंच पर लाया गया। इसका पार्श्विक परिणाम यह भी अवश्य हुआ कि राजा और राज्य की स्थिति के बारे में पर्याप्त सूचनाएँ मिलीं।

द्वारपाल भी विद्यापति का देखा-सुना ही है। 'निठुर दुअरिआ' के रूप में उसका चित्रण अच्छा बन पड़ा है।

नाटक का वैशिष्ट्य : राग और वैराग्य की अनुभूति किसी भी व्यक्ति के लिए अपरिचित नहीं है। हाँ, संवेदनशील व्यक्ति के जीवन को यह अनुभूति अधिक छूती है, डँसती है। कवि से अधिक संवेदनशील और कौन हो सकता है। विद्यापति ने अनुभूतियों के इस अन्तर्द्वन्द्व को ही लोक-परिचित बिम्बों के साथ लोकभाषा में रंगमंच पर उतारा है। इस अन्तर्द्वन्द्व के चित्रण में शास्त्र को प्रवेश नहीं करने दिया गया है। कवि ने नाटक को साम्प्रदायिक सिद्धान्तों की चर्चा से बड़ी कुशलता से बचा लिया है। इस प्रकार, राग पर वैराग्य की, भोग पर योग की अन्तिम विजय दिखाने के बाद भी विद्यापति के 'गोरक्षविजय' को नाथ-सम्प्रदाय का धार्मिक नाटक नहीं कहा जा सकता। नाटक में जहाँ संस्कृत-श्लोक आये हैं, वहाँ उनका पाण्डित्य अवश्य कुछ कहने को कुलबुलाने लगा है। किन्तु, मैथिली-गीतों में उनका संवेदनशील कविरूप सर्वोपरि रहता है। संस्कृत की परम्परा ही ऐसी जकड़नेवाली थी कि विद्यापति जैसे कवि भी उसके सामने अभिभूत हो जाते थे। मैथिली-साहित्य-परम्परा के तो वे निर्माता ही थे।

'गोरक्षविजय' की प्रस्तावना में और अन्त में भी रचयिता के रूप में विद्यापति का नाम आया है। प्रस्तावना में महाराज शिवसिंह का नाम जोड़कर यह स्पष्ट कर दिया गया है कि ये दूसरे विद्यापति नहीं हैं। साथ ही, 'गोरक्षविजय' के २६ गीतों से में २३ गीतों में भणिता के रूप में 'विद्यापति' शब्द का प्रयोग हुआ है। गीत-सं० ६ में 'कविकण्ठहार' और गीत-सं० ९ में 'कवि सरसति' शब्द का प्रयोग हुआ है। ये दोनों पद भी विद्यापति के लिए ही प्रयुक्त हुए हैं। गीत-सं० ५ खण्डित है और उसमें भणिता नहीं है।

नाटक की रचना-शैली, विशेषतः मैथिली-गीतों की, इतनी सीधी-सादी है कि उसे विद्यापति की रचना मानने में स्वभावतः सन्देह उत्पन्न होता है। सामान्यतः, 'पारिजातहरण' के मैथिली-गीतों की तुलना में 'गोरक्षविजय' के मैथिली-गीत अनलंकृत ही कहे जायेंगे। यह सच है कि विद्यापति की पदावली अलंकृत शैली में ही लिखी गई है। किन्तु, पदावली में भी नचारी आदि सरल शैली में ही हैं। 'गोरक्षविजय' के पर्यालोचन से ऐसा लगता है कि यह विद्यापति की प्रारम्भिक रचना है। 'गोरक्षविजय' में भी ऐसी कुछ पंक्तियाँ अवश्य हैं, जहाँ पदावली के विद्यापति का साक्षात्कार हो जाता है ; जैसे :

'तति खने बिजुरि यति खने मेघ।

— — ...

साएर छाड़ि कहा वस पानि।' (गीत २०)

हरिमोहन मिश्र

गोरक्षविजय

(गीत १)

.... नारायण देवा ।
युगुति[१] भुगुति[२] दुहु रस सम सेवा ॥
गति[३] एक दीन मेटावहि[४] आधि ।
तनु[५] रतिरस तस सुदिढ़ समाधि ॥
मन परितोष रोष तह दून[६] ।
मारल मदन जिआओल पून[७] ॥
युगुति कारणे भेलाह जटाधारी ।
भुगुति कारणे अर्धतनु धर नारी ॥
भनइ विद्यापतिथु पुरव आसा ।
मङ्गल करए देव दिगवासा[८] ॥

[स्वयं भगवान् विष्णु (जिस शिव की उपासना करते हैं) जो योग और भोग दोनों रसों का समान भाव से सेवन करते हैं, जो दीनों की गति हैं और कष्ट को दूर करते हैं, जो कायिक आनन्द में मग्न रहते हैं, किन्तु उससे अधिक कठिन समाधि में भी लीन रहते हैं, क्रोध से अधिक जिनके मन में सन्तोष है, जिन्होंने कामदेव को मारकर पुनः जिला दिया (और) जो योग के कारण जटाधारी हुए, तो भोग के कारण अर्धनारीश्वर। विद्यापति कहते हैं कि दिगम्बर देव (शिव) मंगल करें (और) हमारी आशा पूर्ण करें।]

नट : अलमतिविस्तरेण। ततो नटीमाहूय संगीतकमवतारयामि।

[अत्र अधिक विस्तार से क्या ? तो फिर नटी को बुलाकर संगीतक की अवतारणा करूँ।]

---

१. प्रति 'ख' का पाठ है, 'वस्तुति'। डॉ० प्र० ना० झा ने इसे 'युगुति' पढ़ा है।

२. प्रति 'ख' में 'भुगुति' के बाद प्रश्नवाचक चिह्न है, जो निरर्थक है। 'युगुति' और 'भुगुति' का समर्थन इसी गीत की सातवीं और आठवीं पंक्ति से होता है।

३. प्रति 'ख' में यहाँ है, रति। अर्थ की दृष्टि से उसे 'गति' कर दिया गया है।

४. 'मेटाव' के बाद प्रति 'ख' में दो अक्षरों की कमी के चिह्न हैं। किन्तु, छन्द ठीक है।

५. प्रति 'ख' में 'तम' है, जिसे अर्थ की दृष्टि से 'तनु' कर दिया गया है।

६-७. प्रति 'ख' के 'दूण' और 'पूण' को डॉ० प्र० ना० झा ने क्रमशः 'दून' और 'पून' पढ़ा है।

८. प्रति 'ख' का पाठ है, 'दिअ (?) सासा।' प्रति 'क' में 'दिगवासा' पाठ है। डॉ० प्र० ना० झा ने भी इसे 'दिगवासा' ही पढ़ा है।

विशेष : डॉ० प्र० ना० झा के अनुसार इस गीत की प्रथम पंक्ति है :

"द्वादशांक दय शशिसेषर भेला ॥ ध्रुवं ॥"

नटी : प्रविश्य[१] [प्रवेश कर]

अज्जउत्त इयं खु अहं चिट्ठामि ।[२] **किं आणवेदि अज्जो ।**

[आर्यपुत्र ! यही तो मैं खड़ी हूँ । आर्य की क्या आज्ञा है ?]

नट : श्रीविद्यापतिसत्कवीश्वरस्य गोरक्षविजयनामनाटकनटनाय महाराजाधिराज श्रीमत् शिवसिंहदेवपादैः स्वहेतुकार्थं श्रीमद्भैरवभक्तये आज्ञापितोस्मि ।[३]

[महाराजाधिराज श्रीमान् शिवसिंहदेव से अपने प्रयोजन के हेतु भगवान् भैरव की भक्ति के लिए सत्कवीश्वर श्रीविद्यापति-विरचित गोरक्षविजय नाटक के अभिनय की मुझे आज्ञा मिली है ।]

नटी : अज्ज[४] **कं समयं लक्ष्यीकदुअ**[५] **नट्टिदव्वं । शारद ।**[६]

[आर्य ! किस ऋतु के उपलक्ष्य में नृत्य किया जाय ? शरद् ऋतु ?]

नट : शारदमेव । शरत्मय । यत्र[७]

[शरत् ऋतु ही । यह शरत् है जब]

पिबति तमः शशिलेखा[८]
विकसति[९] पद्मं हसन्ति कुमुदानि ।
लघुरपि राजति तारा
गुरुरपि सीदति पयोवाहः ॥

[चन्द्रमा की किरणें अन्धकार का नाश करती हैं । कमल विकसित हो रहे हैं और कुमुद हँस रहे हैं । छोटे होने पर भी तारे अच्छे लगते हैं, (किन्तु) बड़ा होने पर भी मेघ कष्ट पा रहा है (अच्छा नहीं लगता) ।][१०]

---

१. प्रति 'ख' का पाठ है, 'प्रविश्य नटी' ।

२. प्रति 'ख' के आरम्भ के कई अक्षर लुप्त हैं ।

३. प्रति 'ख' में कई अशुद्धियाँ हैं; जैसे, 'सत्कवि' के स्थान पर 'शत्कवि' आदि ।

४. प्रति 'ख' में यहाँ है, 'अज्ज तत्तु' ।

५. प्रति 'ख' में है 'लक्षीकृत्य अनट्ठिदव्वं' ।

६. प्रति 'ख' में 'शारद' के स्थान पर कुछ नहीं है ।

७. प्रति 'ख' में 'यत्र' नहीं है ।

८. प्रति 'ख' का पाठ है, 'शशिलेषा' ।

९. प्रति 'ख' का पाठ है, 'विकशति' ।

१०. प्रति 'ख' में इसके बाद है, 'नेपथ्ये कलकलः' और तब मालवराग में गीत-सं० २ है । किन्तु प्रति 'क' में दोनों श्लोक, 'पिबति तमः.......' और 'प्रफुल्लसप्तच्छद.......' एक साथ हैं । यही संगत प्रतीत होता है ।

प्रफुल्लसप्तच्छदगन्धलुब्धा
मुग्धाः प्रभातोत्पलसौरभेषु ।
(भृङ्गा उभाभ्यामपकृष्यमाणाः
स्तत्रात्र)[1] कुर्वन्ति गतागतानि ॥

[खिले हुए छितवन की गन्ध से लुब्ध तथा प्रातःकाल के खिले हुए कमल की गन्ध से मुग्ध (भ्रमर, दोनों से आकृष्ट होने के कारण यहाँ-वहाँ) जाते-आते हैं ।]

नटी : तर्हि नृत्यारम्भः .... ।

[तो फिर नृत्य किया जाय .... ।]

न द्यौ रम्भोधराक्रान्ता भूमिर्न शर्करावती ।
न गोष्ठी खलभूयिष्ठा किं न नृत्यामि हे नटाः ॥[2]

[न तो आकाश मेघाच्छन्न है और न धरती ही कँकड़ीली है । परिषद् में भी दुष्टों की संख्या अधिक नहीं है । तो फिर हे नट ! मैं क्यों नहीं नाचूँ ।]

नेपथ्ये कलकलः

[परदे के पीछे हलचल][3]

(गीत २)

मालवरागे

अच्छ अच्छ राजा महेन्द्रनाथ ।
योग तेजि रे युवति रतिनाथ ॥[4]

---

१. मूल प्रति के वामोपान्त में लिखित श्लोक की तृतीय पंक्ति ऐसी लिप-पुत गई है कि पढ़ी नहीं जा सकती है । अतएव, यहाँ अर्थ के आधार पर निम्नलिखित पाठ की कल्पना की गई है : (भुग्नाश्च किंजल्कभरेण) भृङ्गा, भूयोत्र । यह संशोधित पाठ बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् द्वारा प्रकाशित 'विद्यापति-पदावली' (प्र० भा०, भूमिका, पृ० ७७) में है । मैंने अपनी ओर से यहाँ नया पाठ दिया है, जो अर्थ की दृष्टि से अधिक उचित प्रतीत होता है ।

२. इस श्लोक के प्रथम दोनों पादों में 'न' के पाठ का सुझाव डॉ० प्र० ना० झा ने दिया है ।

३. प्रति 'ख' में 'पिबति तमः ....' श्लोक के बाद ही 'नेपथ्ये कलकलः' और बाद के गीत हैं । इन्हें यहाँ परिवर्त्तित क्रम में रखा गया है । विशेष विवेचन के लिए द्रष्टव्य प्रस्तुत ग्रन्थ की भूमिका, पृ० २९ ।

४. प्रति 'ख' में यहाँ पाठ है—'युवति ×ति नाथ' । डॉ० प्र० ना० झा ने यहाँ नया पाठ सुझाया है, 'शतसाथ' । किन्तु, फोटो-कॉपी में 'नाथ' का 'न' लक्षित होता है । इसलिए 'र' की कल्पना कर उसे 'रतिनाथ' कर दिया गया है ।

गुरु क उदेसे गोरखनाथ आव।
तसु पय वन्दन करए के पाव॥ ध्रुवं॥
मङ्गल करथ जगत एहु ब्रह्म।
.... ॥
सुजन मुनिञो सुख[1] दुजनहु बोध।
भला मन्दा दुहु सहज विरोध॥
दुअहुँ के कर जस हमार।
भनइ विद्यापति क .... ॥

[मत्स्येन्द्रनाथ राजा हैं। योग छोड़कर वे युवतियों के लिए कामदेव हो गये हैं। गुरु की खोज में गोरखनाथ आ रहे हैं। उनके चरणों का गुणगान कौन कर सकता है? ईश्वर इस जगत् का कल्याण करें। .... । सुजनों और मुनियों को (मेरी कृति से) आनन्द होगा, तो दुर्जनों को भी ज्ञान हो ही जायगा। भला और बुरा इन दोनों में सहज विरोध तो है ही। (तथापि) मेरा यश दोनों के ही हाथों में है। विद्यापति कहते हैं ....।]

(गीत ३)

.... कानन[2] पसरु पराग।
मन्द पवन वह विमलन (विमनए?) लाग॥
मातल हाँस चकोर कर नाद।
मधु .... ॥ ध्रुवं॥
अएलाहे रे गोरखनाथ।
राखा मुद्रा अभरण संगा हाथ॥
संगहि काननिपा हृदय आनन्द।
सरद .... कोन चन्द॥
भनइ विद्यापति बुझ सव केओ।
मङ्गल विथ(त)रथ भैरव देओ॥

[.... .... वन में (कुसुम-) धूलि फैल गई है। हवा मन्द-मन्द बह रही है। ....। हंस मत्त हैं और चकोर बोल रहे हैं। ....। भस्म लगाये और मुद्रा तथा आभरण हाथ में लिये गोरखनाथ आ गये हैं। प्रसन्नचित्त काननिपा (कण्हपा)

१. प्रति 'ख' का पाठ है, 'सुष'।
२. प्रति 'ख' का पाठ है, 'कनद', जो संगत नहीं प्रतीत होता है।

उनके साथ हैं। .... । विद्यापति कहते हैं कि सभी इसे समझ लें। भगवान् भैरव मंगल वितरण करें।]

(इति प्रस्तावना।)[1]

पुनस्तदस्या वशकलाप आर्त....न नरादृष्टः
काननीपादेनानुगम्यमानः गोरक्षः वदति च।

[... ... ... । कण्हपा के साथ आते हुए गोरखनाथ बोलते हैं।]

गोरखनाथ : किं करवाणि तथापि गुरोरनुसन्धानं कर्त्तव्यम्।

[क्या करूँ ? फिर भी गुरु का अनुसन्धान तो करना ही है।]

इत्युक्त्वा तथा करोति।

[यह बोलकर वैसा ही करते हैं।]

(गीत ४)

दू गोटा योगि हमे सहज क सङ्ग।
पथ जनु होए मनोरथ भङ्ग॥ ध्रुवं॥
आमि तथा बोलिजा....जो लजाओ।
यथा सुनिलो गुरुचरणेरि नाओ॥
भिखिआ भोजन तरु तर वास।
भनइ विद्यापति दुरेदुरे आस॥

[हम दो योगी स्वभावतः साथ हैं। हमारा मनोरथ पथ पर भंग न हो। मैं वैसा ही बोलूँगा .... जैसा गुरुपाद का नाम सुना है। भिक्षा-भोजन और वृक्ष के नीचे वास होगा। विद्यापति कहते हैं कि आशा बहुत दूर है।]

(गीत ५)

.... सिते राज काज करओ मओ पञ्चशत।
तीनि भुअण के बुझओ सकल तंत॥ ध्रुवं॥
कहहि दुआरकथा अरे रे दुअरि(आ ?)।
.... तर्के (?) तव परिहर॥
निज अधिकार करब कर।

---

1. प्रति 'क' में यह अंश है ही नहीं। प्रति 'ख' में गीत-सं० २ के बाद ही केवल 'प्रस्तावना' शब्द का उल्लेख है। किन्तु जैसे संस्कृत के पद्यों में वैसे गीत-सं० ३ में शरद्वर्णन ही है। गीत-सं० ३ में इतना और अधिक है कि गोरखनाथ के आने की भी सूचना दे दी गई है। अतएव, इसके बाद ही 'इति प्रस्तावना' उचित है।

[................ राजकाज (राजाओं के कार्य, राजाओं के यहाँ आते-जाते मुझे पचास वर्ष बीत गये। मैं तीनों लोकों की युक्तियों को जानता हूँ। अरे द्वारपाल! (जाकर) द्वार की कथा निवेदित करो। .... । अपना काम करो।]

दौआरिक [द्वारपाल] :

आ रे योगिनौ युवयोरत्र प्रवेशो नास्ति।

[अरे योगियो! तुम दोनों का यहाँ प्रवेश नहीं हो सकता।]

दोनों योगी : आरे दौआरिक आवां योगिनौ सर्वत्र स्वच्छन्दचारिणौ वासिनौ च। को निषेधितु समर्थो भ ....।

[अरे द्वारपाल! हम दोनों योगी हैं; स्वेच्छा से सर्वत्र भ्रमण करते हैं और बसते हैं। कौन हमें रोक सकेगा?]

(गीत ६)

बहिर रोहायी उठल छोहायी।
बेंत सहित देथि राए दोहायी॥ ध्रुवं॥
निठुर दुआरिआ जएवा हम देहे।
...., ... टरि वाट न लेहे॥
भने रस साधे कवि कण्ठहारे।
स्वछन्द योगी हमें धरिबाँ के पारे॥

[बाहर रहते हो (और लोगों पर) अनुग्रह करते हो। बेंत हाथ में लेकर तुम राजा की दुहाई देते हो। हे निष्ठुर द्वारपाल! तुम हमें जाने दो। .... मार्ग मत रोको। हम स्वच्छन्द योगी हैं। हमें कौन पकड़ सकता है? रससिद्ध कवि-कण्ठहार (विद्यापति) ऐसा कहते हैं।]

शृण रे दौआरिक मूढमते कथयामि समालनिसे हसति (?) पुनरपि शृण।

[अरे मूर्ख द्वारपाल! सुनो, मैं तुमसे कहता हूँ। ....। फिर सुनो।]

गोरखनाथ :

संक्षोभयामि नगरं गगनं नयामि
प्रासादमेव नृपतेर्निभृतं विशामि।
किं (सच्चरित्र)स्य गुरोरिदानीं
रागानुबद्धहृदयस्य रुषो बिभेमि॥[1]

[मैं नगर में हलचल पैदा कर सकता हूँ। आकाश में (उसे) ले जा सकता हूँ। राजा के एकान्त अन्तःपुर में जा सकता हूँ। (मेरे प्रति) सानुराग रहनेवाले और (सच्चरित्र) गुरु के क्रोध से मैं भय खाता हूँ।]

---

१. प्रति 'ख' के पाठ में कई स्थानों में त्रुटियाँ हैं।

(गीत ७)

धनछीरागे

थम्भन मोहन जानहुं हमें ।
गुरु डरें सब .... नमें ॥
आवह काननिपा रचह उपाए ।
जेहुं तेहुं बात नहि लये जाए ॥
भनइ विद्यापति सद उपदेश ।
नट भेष कएने परवेश ॥

[हम स्तम्भन और मोहन जानते हैं । (किन्तु) गुरु के भय से (उनका प्रयोग नहीं कर रहे हैं) । जिस किसी भी बात से यह हमें नहीं ले जायगा । हे कण्हपा ! अब आओ और कुछ उपाय करो । विद्यापति यह सद्विचार देते हैं कि नर्त्तक का वेश बनाने से प्रवेश हो सकता है ।]

(गीत ८)

द्वारपाल : कदलिपुर पाटन नगर एहु आथि ।
लाषे धोल सहसे पूताँ हाथि ॥
मीननाथ राजा परताप ।
आज्ञा लाँघिअ कमनक बाप ॥
....मन्त्रि हुनक (?) देथी ।
अनय काज तें (?) कोप करथी ॥
भनइ विद्यापति रस के अङ्ग ।
साति करावथु (थि ?) आज्ञा भङ्ग ॥

[यह कंदलीपुर—पाटन नगर है, जहाँ लाखों घोड़े और सहस्रों ....हाथी हैं (और) जहाँ प्रतापी राजा मत्स्येन्द्रनाथ राज्य करते हैं । किसके बाप की हिम्मत है कि उनकी आज्ञा का उल्लंघन करे । उनके मन्त्री .... । अनीतिपूर्ण कार्य से वे क्रोध करते हैं । आज्ञा-भंग करने पर वे दण्ड देते हैं । विद्यापति इसका सरस वर्णन करते हैं ।]

(गीत ९)

गोरखनाथ : .... देश देषिलो सुखे जाए ।
ऐसन कठिन पुर कतहु न पाए ॥
कथा जाइ बोला कथा जाइ बोला ।
.... नटन प्रवेश ॥
कवि सरसति भने सद उपदेश ।
राए रूपनराँग्नेन बुझए विशेष ॥

[..........देश देखकर तो आनन्द होता है, (किन्तु) ऐसा कठिन नगर कहीं नहीं है। जाकर यह बात कहो, जाकर यह बात कहो, ... कि नट प्रवेश चाहते हैं। सरस्वती के कवि यह सदुपदेश कहते हैं। राजा रूपनारायण इसे विशेष रूप से समझते हैं।]

प्रक्षेपः ततः .... महामतिर्नाम मन्त्री।[१]

[पर्दे का हिलना और .... महामति नामक मन्त्री का प्रवेश।]

(गीत १०)

देश मल्लार रागे

मन्तर गमन मन्त को भारे।
दूधपानि बेकतार (ब ?) विचारे॥
कार ण (न)[२] पिरिति नीति मने।
सब मने राज-काज पये डीठि॥ ध्रुवं॥
आएल महथ महामति नाम।
आसन कें अवकासह ठाम॥
तपत प्रताप सबहि दिस धाव।
.... तनि अलस रे आव॥
धरम राखि धन भरिअ भण्डार।
भनइ विद्यापति कवि कण्ठहार॥

[मन्त्र के भार से मन्थर गमन करते हुए (मन्त्री आ रहे हैं)। वे विचार कर दूध और पानी को पृथक्-पृथक् कर देते हैं। किसी से (उन्हें) प्रीति नहीं है, नीति-मात्र ही मन में है। ये सम्पूर्ण मन में राजकाज में ही लगे रहते हैं। ऐसे महामति नामक महान् मन्त्री आये हैं। उन्हें आसन देने के लिए स्थान बनाओ। उनका प्रखर प्रताप चारों ओर फैला हुआ है। ... ...। वे धर्म की रक्षा करते हुए धन से भाण्डार को भरते हैं। कवि-कण्ठहार विद्यापति यह कहते हैं।]

मन्त्री : अरे दौआरिक महाराजावार्त्ता (ं) कथय।

[अरे द्वारपाल ! महाराज का समाचार सुनाओ।]

ततो दौआरिक· प्रणमति वार्त्ता (ं) कथयति च।

[तब द्वारपाल प्रणाम करता है और समाचार कहता है।]

---

१. प्रति 'क' में यह अंश अनुपलब्ध है। प्रति 'ख' में 'महामन्ति' शब्द है, जिसे यहाँ शुद्ध कर दिया गया है।

२. एकमात्र प्रति 'ख' में ही यह गीत उपलब्ध है। यहाँ पाठ है, 'कार पिरिति'। सम्पादक की टिप्पणी के अनुसार यहाँ 'ण' लिखकर उसे काट दिया गया है। वस्तुतः यहाँ 'कार' के बाद 'न' होना चाहिए। तभी संगत अर्थ हो सकेगा।

(गीत ११)

कानलरागे

प्रति जनपद (प्रतिनगर नहि)[१] ।
कुपथ[२] डर सुनि तुग्र नाम ।।
सुन सुन मतिवर बात कहञो फुर ।।
आगु आगु धावए अज्ञा तो(रि) ।
.... विसरि हलु जनमक चोरि ।।
दुइ योगि आएल पलटिए गेल ।
तोरे डरे घर परवेस न भेल ।।
भनइ विद्यापति कहहि सरु ।
........एजन अवसर अछि मछेन्द्र भूप ।।

[प्रत्येक जनपद और (प्रत्येक नगर में) आपका नाम सुनकर कोई भी डर से कुपथ पर नहीं चलता है । हे मन्त्रिवर ! सुनिए, मैं आपसे कहता हूँ । आगे-आगे आपकी आज्ञा दौड़ती है । जन्म से ही जिसे चोरी की आदत थी, वह भी उसे भूल जाता है। दो योगी आये और लौट गये । आपके डर से घर में उनका प्रवेश नहीं हो सका है। राजा मत्स्येन्द्रनाथ के विषय में अभी यही है । विद्यापति कहते हैं....।]

(गीत १२)

धनछी रागे

मन्त्री : योगि भये राजा भेल मिन नाथे ।
राज सोपल तन्हि हमरा हाथे ।।
[३].... .... लावए योगिसङ्ग जायी ।
अठारह महादेविक मन उपायी ।। ध्रुवं ।।

---

१. प्रति 'क' में यह गीत अनुपलब्ध है। प्रति 'ख' में प्रथम पंक्ति का पाठ है—"प्रति जनपद = ... ल × र सहि ।" यहाँ स्वीकृत पाठोद्धार संगत प्रतीत होता है ।

२. प्रति 'ख' में द्वितीय पंक्ति का प्रथम शब्द है, 'उपथ ।' हस्तलिपि का उक्त अंश ऐसा लिपा-पुता है कि वह 'उपथ' ही है, यह साफ पढ़ा नहीं जाता । अतएव, उसे 'कुपथ' कर दिया गया है ।

३. प्रति 'क' में यह गीत नहीं है। प्रति 'ख' में तृतीय पंक्ति का प्रथम शब्द है, 'यावत ।' किन्तु, हस्तलिपि का वह अंश लिपा-पुता है । इस प्रकार, 'यावत' का कल्पित पाठोद्धार ही माना जा सकता है । किन्तु, 'यावत' अर्थ की संगति यहाँ नहीं बैठती । इसलिए उसे रिक्त छोड़ दिया गया है ।

परचार नगरी योगिक प्रवेश दुआर जनु हो
.... गरा नइ रनिम एक भेला।
चारिहुँ दिश बुलि डिण्डिम देला॥
मान्तमि देश मेटये के पार।
भनइ विद्यापति .... ॥

[मत्स्येन्द्रनाथ योगी होकर राजा हुए हैं और उन्होंने मेरे हाथ में राज्य सौंप दिया है। अट्ठारह महादेवियों के मन के विना योगी को कोई साथ (नहीं ला सकता है)। नगर में यह प्रचार कर दिया गया है कि योगी का प्रवेश राजद्वार पर नहीं हो। चारों ओर यह ढिढोरा पिटवा दिया गया है। मन्त्री का आदेश कौन नहीं मान सकता है। विद्यापति कहते हैं ....।]

पुनर्मन्त्री परिक्रम्य दौआरिकं समाज्ञापयति।[1]

[मन्त्री पुनः घूमकर द्वारपाल को आज्ञा देते हैं।]

मन्त्री : अारे दौअारिक ! राजा पूर्व्वकयोगी
उ (?) प्र (?) दि योगी सङ्गं प्राप्य
....
द .... द ह .... प॥ ध्रवं॥

[अरे द्वारपाल ! पहले के योगी राजा .... योगियों का संग प्राप्त कर (आनन्दित होंगे)।]

योगप्रभावेण निसर्गसिद्धः
संसर्गतश्च .... तः।
कीरः पठेन्मानुषमध्यवर्त्ती
नृत्यत्यत्रस्तं किल वानरोऽपि॥[2]

[योग के प्रभाव से प्रकृतिसिद्ध तथा संसर्ग के .... वशीभूत होकर मानवों के मध्य रहनेवाला शुक भी (मनुष्य की बोली) बोलने लगता है (और) वानर भी निर्भय होकर नृत्य करता है।]

अरे दौआरिक कियती वेला। कस्मिन्नतु।
भेटत. अह अपराजना आज्ञाप्य[3] आकथयन्ति।

[अरे द्वारपाल ! कितना समय है ? किसमें ? .... दूसरे व्यक्ति ही आज्ञा देकर कहते हैं।]

---

१. प्रति 'ख' के इस पाठ को शुद्ध कर दिया गया है।
२. यह प्रति 'क' का पाठ है। प्रति 'ख' में यह श्लोक सर्वथा त्रुटिपूर्ण है।
३. प्रति 'ख' के 'ह' को यहाँ 'आ' कर दिया गया है। 'ज्ञाप्य' 'आ' उपसर्ग के साथ ही बन सकता है।

महारा. ओ मछेन्द्र सेहो चन्दलेहा हारवती पुष्प अकायो जो अ. द्धा इह्नि गाइ विहि सम स विक्रीडां कर्तु सह वस वैरेवट्टदि।

[.... ....
....]

इति मन्त्री निष्क्रान्तः

[मन्त्री चले गये।]

ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टः अपटीक्षेपेण[1] महादेवीभिः सह राजा।

[तब यथानिर्दिष्ट राजा महादेवियों के साथ परदा हिलाकर प्रवेश करते हैं।]

(गीत १३)

सालङ्गी रागे

चामर विजए चौदिस नारि।
बइसल राजा देल पसा सारि॥
रतनक चकमकि वलए झमार (?)।
फुरति[2] नयन जनि मयन हकार॥ ध्रुवं॥
पाट सिंहासन मुकुट सुवेश।
राए मछेन्द्र देल परवेश॥
कि करिवो जप तप योगअ धेआँन।
कि करिवो दान कि परम गेआन॥
भनइ विद्यापति युवति समाज।
बड़े पुण्ये पाइअ यौवन राज॥

[नारियाँ चारों ओर चँवर डुला रही हैं। राजा बैठे हुए हैं और चौपड़ चल रहा है। रत्न की ज्योति झिलमिल कर रही है, मानों नयन कामदेव की पुकार पर स्फुरित हो रहे हैं (?)। रेशमी वस्त्र पहने हुए और मुकुट धारण किये हुए राजा मत्स्येन्द्रनाथ सुन्दर वेश में सिंहासन पर हैं। जप, तप, योग और ध्यान कर क्या करूँगा? दान देकर और ज्ञान प्राप्त कर ही क्या करूँगा? विद्यापति कहते हैं कि यौवन-काल और युवतियों का समाज बड़े पुण्य से ही मिलते हैं।]

राजा कामपीड़ितः उत्पलनयनां स्पृशति कामपि पश्यति कामालिङ्गति च।

---

१. प्रति 'ख' के पृ० ६ 'ख' का अन्तिम पद 'अपक' के रूप में पढ़ा गया है। परवर्त्ती पृष्ठ का पठित पूरक अंश है,—'क महादेवीभिः'। उक्त अंशों के लिपे-पुते होने के कारण पाठोद्धार का प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु, सन्दर्भ बताता है कि यहाँ 'अपटी-क्षेपेण' ही रहा होगा।

२. अर्थ की दृष्टि से प्रति 'ख' के 'पुरति' के स्थान पर 'फुरति' पाठ अधिक संगत है।

[कामपीडित राजा कमल के समान नयनवाली किसी युवती का स्पर्श करते हैं, किसी को देखते हैं और किसी का आलिंगन करते हैं ।]

(गीत १४)

मालवरागे

अधरहास कुसुमवास[१] ।
मुदित मानिनि[२] तिमिर पास[३] ।।
खञ्जन लोयनि कमलमुखी ।
मुख देखि मने परम सुखी ।। ध्रुवं ।।
खेल नरपति रे ....
खेल नरपति युवति सङ्गे ।।
काहु आलिङ्गए काहु निहार ।
काहु लिलोपन मलाब्ने मार ।।
काहु बुझाव विसेषि सिनेह ।
पुलकें सकल[४] मण्डित देह ।।
बहुल कामिनि एकल कन्त ।
कृष्ण पति आएल सयन तन्त ।।
रूपे से नागर रस सिङ्गार ।
कौतुके गाव कवि कण्ठहार ।।

[ओठों पर हँसी है । फूलों की सुगन्ध आ रही है । मानिनी प्रसन्न है । उसके केश-पाश अन्धकार के सदृश हैं । कमल के समान मुखवाली नायिकाओं के खंजन के समान नेत्र हैं । उनका मुख देखकर परम आनन्द होता है । महाराज क्रीडा करते हैं .... । महाराज युवतियों के साथ क्रीडा करते हैं, किसी का आलिंगन करते हैं, तो किसी को देखते हैं । किसी को नीलकमल की माला से मारते हैं, तो किसी को स्नेहपूर्वक समझाते हैं । रोमांच से (उनका) समग्र शरीर शोभित हो

१-३. प्रति 'ख' का पाठ है :

कुचहास न कुसुम वास ।
मुदित मदन तिमिर हास ।।

यह हस्तलिपि का वह स्थल है, जहाँ अक्षर दिखाई नहीं पड़ते । किसी तरह से 'कुसुमवास' ही पढ़ा जा सकता है । अतएव 'कुचहास' को 'अधरहास' कर दिया गया है । 'न' भी पढ़ा नहीं जाता और उसकी निरर्थकता भी स्पष्ट है । दूसरी पंक्ति में 'मदन' नहीं 'मानिनि' ही पाठ है । इसी पंक्ति के अन्त में 'स' ही स्पष्ट है, अतएव 'हा' को 'पा' कर दिया गया है ।

४, यहाँ भी अक्षर स्पष्ट नहीं हैं । 'सकल' पाठ अधिक संगत प्रतीत होता है ।

रहा है। एक कन्त है, किन्तु अनेक कामिनियाँ हैं। शय्या पर जैसे कृष्ण ही पति आये हों। वह नागर-रूप से श्रृंगार रस के सदृश दिखाई दे रहा है। कवियों के कण्ठहार विद्यापति इसे कुतूहल के साथ गाते हैं।]

ततः अपटीक्षेपेण प्रतीहारीप्रवेशः

[उसके बाद परदा हिलाकर प्रतीहारी का प्रवेश।]

प्रतीहारी : अहो अहो महाराओ तेलङ्ग एदौ नटे तिट्ठद। यथा आँणवेदि।

[हे महाराज ! तेलंग (देश के) दो नट आये हैं। जैसी आज्ञा हो।]

(गीत १५)

मलारी रागे

तेलङ्ग देश कें नट चओरङ्ग[1]।
नाय मे चाह माण्डि रस रङ्ग॥
.... नाञ्च।
दखिन देश कें देखव नाञ्च॥
कह प्रतिहारी अवसर आए।
बात जनाब भूमि सिर लाए॥
नट वउ (ड ?) सु।
निते निते बे (रे ?) दिवस सुख जाए॥
नाट्य लावे संसार क सार।
भनइ विद्यापति कवि कण्ठहार॥

[प्रतीहारी ने अवसर पर आकर पृथिवी पर सिर झुकाकर (राजा से) कहा—तेलंग देश के चतुर नर्त्तक आये हुए हैं, जो नाच में रसरंग दिखाना चाहते हैं। ....। दक्षिण-देश का नाच आप देखेंगे। ....। कवि-कण्ठहार विद्यापति कहते हैं कि नृत्य संसार का सार है (और उससे) प्रत्येक दिन सुख से बीतता है।]

राजा : सत्वरं तौ नटौ प्रवेशथ (य ?)।

[शीघ्र ही उन नटों को ले आओ।]

---

१. प्रति 'ख' में हस्तलिपि में 'चओरङ्ग' है। सम्पादक ने उसके स्थान पर 'चतुरङ्ग' पाठ का संकेत दिया है। तद्भव चओरङ्ग/चौरङ्ग के भाषा में प्रचलित रहने के कारण उसे यहाँ रखा गया है।

तथा कृतवति अपटीक्षेपेण यथानिर्दिष्टौ नटौ प्रविशतः। नटौ नृपं प्रणमतः। राजा सोत्साहं आज्ञापयति।[1]

[वैसा करने पर पूर्वोक्त दोनों नर्त्तक प्रवेश करते हैं। नर्त्तक राजा को प्रणाम करते हैं। राजा सोत्साह आज्ञा देते हैं।]

राजा : अरे नटौ कस्मात् युवां।

[हे नर्त्तको ! तुम दोनों कहाँ से आये हो ?]

नटौ कथयत [नर्त्तक कहते हैं] :

दक्षिणदेशादागताविति।

[हम दोनों दक्षिण-देश से आये हैं।]

राजा[2] : तर्हि नृत्य। [तो फिर नाचो।]

तौ तथा कुरतः।

[वे दोनों वैसा करते हैं।]

(गीत १६)

वरडी रागे

राजा : ताण्डव लास नृत्य[3] भल नाचसि।
चारिहु अंग समासे॥
जे गावसि से चित्र देखावसि।
जे भावसि से बा (बो ?) ले॥ ध्रुवं॥
तोरे गुने र[4]
.... रहिह नटवटु हमरा सेवा।
जे तुअ मनोरथ से हमे देवा॥

---

१. प्रति 'ख' के पाठ को शुद्ध रूप में प्रस्तुत किया गया है।

२. हस्तलिपि में यहाँ 'राजा' शब्द नहीं है। सम्पादक ने यहाँ 'राजा' शब्द का पाठ सुझाया है, जो उपयुक्त है।

३. प्रति 'ख' में यहाँ 'अन्त' है। हस्तलिपि का उक्त अंश लिपा-पुता है। अर्थानुरोध से यहाँ 'नृत्य' शब्द रखा गया है।

४. प्रति 'ख' में ही यह गीत है और वहाँ 'तोरे गुने र'—के बाद और परवर्त्ती अंश के बीच '॥ मलारी॥' लिखा हुआ है, जिससे यह सूचित होता है कि परवर्त्ती गीत मलारी राग में है। किन्तु, यह भ्रम ही है। पूर्ववर्त्ती और परवर्त्ती अंश एक ही गीत है, जो वरडी राग में है। सम्पादक ने यह टिप्पणी दी है कि प्रायः इसी पंक्ति की बाद में पूर्त्ति की गई है अथवा यह गीत ही असम्पूर्ण है।

बार[1] बौद्धनाथ[2] दुलह हमार ।
थुनु[3] छलि चोरि लहए नहि पार ॥
खेलते उछडलनि अओ सवे रङ्ग ।
धूरिक धूसर आठओ अङ्ग ॥
सुकवि विद्यापति कौतुक गाव ।
वाहि[4] पावि दुलहा दौरल आव ॥
देल तनय आलिङ्गन दान ।
पानि पषारि विसुद्धक गेआँन ॥

[चारों अंगों को मिलाकर ताण्डव और लास्य नृत्य अच्छा नाचते हो। जो गाते हो, उसे चित्रित भी कर देते हो। जो भावना करते हो, उसे बोलते भी हो। तुम्हारे गुणों से ....। हे नर्त्तको ! तुम दोनों मेरी सेवा में रहो। तुम दोनों जो चाहोगे, वह मैं दूँगा। बालक बौद्धनाथ मेरा बहुत ही प्रिय है। ....। वह खेलता-उछलता रहता है और अनेक प्रकार की (क्रीडाएँ) करता है। उसके आठों अंग धूलि-धूसर हैं। उसे (?) पाकर वह बालक दौड़ा हुआ आया। राजा ने पुत्र का आलिंगन किया। ....। सुकवि विद्यापति यह कौतुक गाते हैं।][5]

सर्वे (?)[6] तिष्ठन्ति। [सभी खड़े हैं]

---

१. प्रति 'ख' के सम्पादक ने शुद्ध पाठ के रूप में 'बरे' का कोष्ठक में उल्लेख किया है। किन्तु 'बार' का अर्थ यहाँ वाल, अर्थात् बालक है और वह मत्स्येन्द्रनाथ के पुत्र के लिए प्रयुक्त हुआ है।

२. प्रति 'ख' के सम्पादक ने बौद्धनाथ के 'बौ' के स्थान पर कोष्ठक में 'नौ' पाठ सुझाया है। किन्तु, बौद्धनाथ अनर्थक शब्द है। इस प्रकार, 'बौद्धनाथ' पाठ ही संगत माना जा सकता है। बँगला-गोरक्षविजय की कथा में मत्स्येन्द्रनाथ के पुत्र का नाम है बिन्दुनाथ। गीत-सं० १७ से पूर्व के संस्कृत-नाट्यनिर्देश में 'बौद्धनाथ' शब्द आया है।

३. प्रति 'ख' के सम्पादक के अनुसार यहाँ 'दुनु' पाठ होना चाहिए। अर्थ तब भी अस्पष्ट ही है।

४. प्रति 'ख' के सम्पादक के अनुसार यहाँ 'याहि' पाठ संगत है। किन्तु 'वाहि' हो अथवा 'याहि', यह सर्वनाम किसके लिए प्रयुक्त है, यह अस्पष्ट है।

५. पृष्ठ ८ (क) और पृष्ठ ८ (ख) के बीच कथासूत्र खण्डित प्रतीत होता है; क्योंकि मत्स्येन्द्रनाथ के पुत्र बौद्धनाथ की मृत्यु कैसे हुई, इसका पता नहीं चलता।

६. यहाँ दो अक्षरों का कोई शब्द है, जो पढ़ा नहीं जाता। प्रति 'ख' के सम्पादक के अनुसार यहाँ दूसरा अक्षर है, 'त्र'। अर्थ की दृष्टि से ही यहाँ 'सर्वे' पाठ स्वीकृत किया गया है।

राजा : दौग्रारिकाः एतौ नटौ नरकरे (ले ?) वरधारिणौ यमपुरुषौ मम पुत्रप्राण-हारिणौ नीत्वा व्यापादयथ ।

[हे द्वारपालो ! मेरे पुत्र के प्राण लेनेवाले ये दोनों नट मनुष्य-शरीरधारी यमदूत हैं । (इन्हें) ले जाकर मार डालो ।]

नटौ वदतः [नर्त्तक कहते हैं] :

राजन् किमर्थं[1] आवयोः प्राणवधः कर्त्तव्यः ।

[राजन् ! क्यों हम दोनों का प्राणवध किया जा रहा है ?]

राजा समर्षं पुनर्वदति ।

[राजा क्रोध से फिर बोलते हैं ।]

अरे दुष्टचेतसौ वस्तौ वदथः क एतदुपरि किमपरं कर्त्तव्यं वंशविनाश एव वृत्तोस्ति तर्हि एतौ व्यापादनीयौ ।

[अरे दुष्ट बकरे ! बोलते हो ! इसके बाद और कौन है ? और क्या किया जा सकता है । वंश-विनाश ही हो गया । इसलिए ये दोनों मार दिये जायँ ।]

नटौ : देव विनानुचितेन राज्ञां (ज्ञा ?) वधो अयुक्तः । कथं श्रीमच्चरणै-रेवाभिहितं विशुद्धी प्रक्षाल्य संमानयु (य ?) तां । तेन ता· (आ ?) चम्य वाबा (ला ?) माचरितं यतः । यावदन्ता (न्त्रा ?) वली शोधो न क्रियते तावत् कथं विशुद्धो भवति ।

[देव ! अनुचित कार्य के विना राजा के द्वारा वध कराया जाना युक्तिसंगत नहीं है । श्रीमान् ने ही तो कहा था कि जलसिक्त कर और शुद्ध कर इसे प्रतिष्ठित करो । किन्तु, जबतक अँतड़ी शुद्ध नहीं होगी, तबतक कैसे कोई शुद्ध हो सकता है ?][2]

राजा पुनः भर्त्सयति ।[3]

[राजा पुनः भर्त्सना करते हैं ।]

अरे पापिष्ठा .... सरत अरे दौग्रारिकाः नीत्वा व्यापादयत (थ ?) ।

[अरे पापियो ! दूर हटो । अरे द्वारपालो ! ले जाकर (इन्हें) मार डालो ।]

दौग्रारिकाः तौ नीत्वा तथा कुर्व्वन्ति ।

[द्वारपाल उन्हें ले जाकर वैसा करते हैं (करना चाहते हैं) ।]

---

१. यहाँ 'किमर्थम्' होना चाहिए ।

२. इससे यह संकेत मिलता है कि मत्स्येन्द्रनाथ के पुत्र बौद्धनाथ पर अन्तःशुद्धि के लिए कोई यौगिक प्रयोग किया गया था, जिससे उसकी मृत्यु हो गई ।

३. यह शुद्ध किया हुआ पाठ है । हस्तलिपि का पाठ है, 'भसेवति ।'

नटौ : राजन् यदि बालको जीवति। ....।

[राजन् ! यदि बालक जी जाय। ....]

राजा सकष्टं विहसति।

[राजा सखेद मुसकरा देते हैं।]

राजा : आशु कः प्रत्येति मृतो जीवति।

[कौन तुरत विश्वास करेगा कि मरा हुआ भी जी सकता है।]

नटौ[1] : यदि जीवति। [यदि जी जाय।]

राजा : सप्रमोदं [सानन्द]

तर्हि जीवयं।

[तो फिर जिला दो।]

परिक्रम्य तथा.....................। सर्व्वतः मनाक् वीक्ष्य बौद्धनाथो अभिनवौ भूत्वा जीवितोत्थितः। राजा सहास्यं साश्चर्यः (म् ?) एतौ समालिङ्गयति वदति च।

[परिक्रमा करके ....। चारों ओर थोड़ा देखकर बौद्धनाथ नया होकर जी उठता है। राजा आश्चर्य और प्रसन्नता के साथ उन दोनों का आलिंगन करते हैं और कहते हैं।]

(गीत १७)

सालंकारा .... उग ।
मुइल जिअओलह छादय आनन्द ॥
अन्त भए उगि गेल पुनिमक चन्द[2] ॥ ध्रुवं ॥
कह कह भाए मोर .... ।
कस नओञे (?) त रे हरि हरि ॥
गोरखनाथ से तोह हमर सीख ।
सेवा अएलाहु देइ असीख ॥[3]

---

१. हस्तलिपि का पाठ है 'नट च'।

२. प्रति 'ख' का पाठ है : 'पुनि मकच (र) न्द।' स्पष्ट है कि पुनि के पृथक् पढ़े जाने के कारण ही अन्तिम खण्ड को 'मकरन्द' के रूप में शुद्ध करने का भ्रामक प्रयास किया गया है।

३. प्रति 'ख' का पाठ है :

'गोरखनाथ से तोहर हमें सीख।
सेवाँ अएलाहुँ देह असीख॥

दुलह जिम्रग्रोल दुहु कुल सार।
भनइ विद्यापति कवि कण्ठहार॥

[........................। मरे हुए को जिला दिया। आनन्द छा गया। अस्त होकर पुनः पूर्णिमा का चाँद उग आया। बोलो, बोलो, मुझे तो ऐसा लगता है........ ....। तुम वही मेरे शिष्य गोरखनाथ हो (और) सेवा में आये हो। मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ। कवि-कण्ठहार विद्यापति कहते हैं कि (गोरखनाथ ने) दोनों कुलों के सार प्रिय (पुत्र) को जिला दिया।]

गोरक्षः परमेवं कथयति।[1]

[गोरखनाथ बाद में ऐसा कहते हैं।]

(गीत १८)

गोरखनाथ : गुरु हे जे छल पाटनगिरि।
से आवे नदिम्रा गम्भीरी॥
म्रछल दूध भेलि दही।
कालि देखलि म्राजे नही॥
सैसव देह दुर गेला।
तरुण म्रछल बुढ़ भेला॥
से बाला दे सत म्रसीसे।
देह म्रसीस होयेव दासे॥
विद्यापति कवि बोध।
एहि म्रोहि परम विरोध॥

[हे गुरु ! जो पाटनगिरि[2] था, उसे अब गम्भीर नदी समझिए। जो दूध था, वह दही हो गया। जिसे कल देखा था, वह आज नहीं है। शैशव का शरीर दूर चला गया। जो युवा था, वह बूढ़ा हो गया। .... (हमें) आशीर्वाद दो कि हम तुम्हारे दास बने रहें। विद्यापति कवि यह जानते हैं कि इसमें और उसमें बड़ा ही विरोध है।]

न तो मत्स्येन्द्रनाथ गोरखनाथ के शिष्य हैं और न वे सेवा में आये हैं। अतएव, अर्थ की दृष्टि से इन्हें शुद्ध कर प्रस्तुत किया गया है। तुल० गीत-सं० २६ की प्रथम दो पंक्तियाँ : 'तञो मोर गोरख प्रथमक सीख।
सेवा अएलाहु देइ असीख।'

द्र० भूमिका।

१. प्रति (ख) का पाठ है, 'राजा परमेवं कथयति।'
विवेचन के लिए द्र० भूमिका।

२. द्र० परिशिष्ट ख।

(गीत १९)

विभास रागे

सिर पह जानि सकल संसारे ।
तइअओ संसार न भेलाह पारे ।। ध्रुवं ।।
भल भल भासल[1] तोहे गुरु हमारा ।
सवेतओ जानि भेलाह क · (ष्ट ?) भो (तो ?) ए
पार भइएहे पलटि के बुड़यी ।
पाँखि अछइते पाँखक नहि उड़यी ।।[2]
युवतिहि सङ्गे विसरि गेल चन्द ।
भनइ विद्यापति फोअह फन्द ।।

[सारा संसार सिर पर है, यह जानने के बाद भी (तुम) संसार के पार नहीं हो सके। अच्छे-अच्छे (लोग) बह गये। तुम तो मेरे गुरु हो। सब कुछ जानते हुए भी तुम्हें कष्ट हुआ। पार होकर भी (तुम) पलटकर डूब गये। पंख रहते भी (तुम) पंख से उड़ नहीं सके। युवतियों की संगति में (तुम) चाँद[3] को भूल गये। विद्यापति कवि कहते हैं कि अब फन्दे को खोलो।]

आ (अ ?) रे मत्स्येन्द्रनाथ गुरो अद्यापि स्वात्मानं न स्मरामि (रसि ?)। यतः

कोदण्ड दण्डयोर्म्मध्ये सूर्य्यकोटि समप्रभं ।
राज्यं विहाय राजेन्द्र तद्यो (ज्यो ?) तिः परिचिन्त्यताम् ।।

[हे गुरु मत्स्येन्द्रनाथ ! आज भी तुम अपने को स्मरण नहीं कर रहे हो। क्योंकि, धनुष और दण्ड के मध्य (विद्यमान) राज्य को छोड़कर, हे राजेन्द्र ! करोड़ों सूर्य के समान प्रभावाली उस ज्योति (ब्रह्म) का चिन्तन करो।]

मछेन्द्र (मत्स्येन्द्रनाथ) :

न तमसि परिच्छतां .... समाधौ
न च विषयसमीहात्यागं[4] त्यक्तौ विवेकाः ।
तदिह नरवधभ्यः पूर्णचन्द्राननाभ्यः
कुसुमविशिषवत्योदन्त[5] एवान्तरात्मा ।।

---

१. प्रति 'ख' का पाठ है 'बाड (? ढ) ल'। अर्थ की दृष्टि से 'भासल' अधिक संगत है। हस्तलिपि के अक्षर तो अस्पष्ट हैं ही।

२. प्रति 'ख' में 'ऊड़यी' है।

३. यहाँ 'चाँद' प्रकाश, अर्थात् ज्ञान के लिए आया है। तु० गीत-सं० १७ में प्रयुक्त 'पुनिमक चन्द'।

४. पाठ अशुद्ध है।

५. यह पाठ भी त्रुटिपूर्ण है।

[समाधि में अन्धकार में सीमित हो जाना ठीक नहीं है और न विषयेच्छा का त्याग ही विवेक है। इसलिए, पूर्णचन्द्र के समान आननवाली स्त्रियों के लिए ही यह अन्तरात्मा कामबाण से विद्ध है।]

गोरक्षः क................दे लक्षते वदति च

[गोरखनाथ .... बोलते हैं।]

अन्तेवासी त्रिभुवनगुरोर्बद्धशीतांशुमौले-
र्मान्यो राजापि च[1] मम गुरुर्योगिनामग्रगण्यः।
तत्त्वारोधोदयवृततनुर्यः[2] स मत्स्येन्द्रनाथः
सीदत्यस्मिन्नहह सुदृशां भ्रूलतापाशबद्धः ।।

[मस्तक पर चन्द्रमा को धारण करनेवाले तीनों लोकों के गुरु (शिव) के शिष्य, योगियों में अग्रगण्य मान्य राजा मेरे गुरु हैं। तत्त्व (-ज्ञान) के अवरोध से संवृत शरीरवाले वही मत्स्येन्द्रनाथ (इस समय) सुन्दर नेत्रवाली (युवतियों) के भ्रूलता-पाश से बद्ध होकर कष्ट पा रहे हैं।]

सप्त देव्यः राजानं प्रणमन्ति वदन्ति च।

[सातों देवियाँ राजा को प्रणाम करती हैं और कहती हैं।]

(गीत २०)

कोलाव रागे

हाथि घोलि[3] पएदल निते कोटि धाव।
हकारलि नारि दूर सब्बो आव ।।
चउदिस नारि करए तुअ सेव।
प्रहरी थिकह धुरन्धर देव ।। ध्रुवं ।।
राजाञों केएल[4] काज।
योगक बले राजाञों निवह राज ।।
विहवलता कतहु नहि थेघ।
ततिखने बिजुरि[5] यतिखने मेघ ।।

---

१. यह प्रति 'क' का पाठ है। प्रति 'ख' का पाठ है, 'राजी यमपि'।
२. यह शुद्ध किया हुआ पाठ है। प्रति 'क' 'यत्स'। प्रति 'ख' 'यं तं'।
३. प्रति 'ख' का पाठ है, 'खेलि'। हस्तलिपि में भी 'घोलि' ही है और वह ठीक है।
४. प्रति 'ख' का पाठ है, 'हेहेल (हेहएल ?), जो अनर्थक है। हस्तलिपि का उक्त अंश 'के एल' जैसा ही लगता है।
५. प्रति 'ख' का पाठ है, 'बिहुरि'। किन्तु 'बिजुरि' की सार्थकता मेघ के साथ स्पष्ट है। हस्तलिपि का उक्त अंश अस्पष्ट है।

कठजीव नारि सामि बिनु जीव ।
तोह मोर लाह अन्हारक दीव ॥
चामर विजए चौदिसि नारि ।
चरण पसाहन कर सए चारि ॥
इच्छा भोजन बड़ परिवार ।
राज तेआग करए के पार ॥
केओ अनुरागिनि केओ अनुराग ।
सुपुरुष तेओ निते निते जाग ॥
भनइ विद्यापति अनुभव जानि ।
साएर छाड़ि कहा वस पानि ॥

[हाथी, घोड़े और पैदल (सैनिक) करोड़ों की संख्या में प्रतिदिन दौड़ते रहते हैं। दूर-दूर से नारियाँ बुलाई जाती हैं। नारियाँ तुम्हारे चारों ओर सेवा में रत रहती हैं। स्वयं भगवान् शिव तुम्हारे रक्षक हैं। राजा के द्वारा ही (राज्य के) कार्य किये जाते हैं। योगबल से ही राजा के द्वारा राज्य-कार्य का निर्वाह होता है। (राजा के विना) बड़ी विह्वलता है, कहीं कोई सहारा नहीं है। जबतक मेघ रहता है, तबतक ही बिजली रहती है। कठोरप्राण नारियाँ ही स्वामी के विना जीवित रह सकती हैं। हे स्वामी ! तुम्हीं मेरे अँधेरे के दीप हो। चारों ओर से नारियाँ तुम्हें चँवर डुलाती हैं और चार सौ नारियाँ चरण-सेवा के लिए प्रस्तुत रहती हैं। यथेच्छ भोजन मिलता है और बहुत बड़ा परिवार है। इस तरह के राज्य का कौन त्याग कर सकता है ! कई नारियाँ प्रेमिकाएँ बनी हुई हैं और कई प्रेम करना चाहती हैं। फिर भी सुपुरुष प्रतिदिन जगे रहते हैं। अनुभवी विद्यापति कहते हैं कि पानी सागर को छोड़कर कहाँ रहेगा ?]

महादेवी : अरे महाराओ एआणं योइ स्वाणं वयणेहि अहआणं उसियान्ता मेणया पहुदी नं परिकरं परिपसाइदु इच्छतु ।

[हे महाराज ! .... अपने वचनों से हम सबको .... प्रसन्न कीजिए ।]

राजा : विहस्य [हँसकर]

अरे स्त्रियः सनिस्तृशतः दूरमपहत ।
अस्माकं योगिनां कुतः स्त्रियो मोहः ?
काष्ठं शिला कुलिशमस्ति कठोरवर्ग-
स्तेभ्योऽपि गाढमधिकं किल योगिचेतः ।

अस्तु स्थितं कमलपत्रमिवाम्भसैव
लेलिप्यते करुणया न रसान्तरेण ।।[1]

[अरी स्त्रियो ! .... दूर हटो । हम योगियों को स्त्रियों का मोह कहाँ ? काष्ठ, शिला और वज्र कठोर वर्ग के हैं । योगियों के चित्त तो उनसे भी अधिक कठोर होते हैं । (वे) जल में कमल-पत्र के समान स्थित रहते हैं (और) न करुणा अथवा दूसरे रस से वे लिप्त होते हैं ।]

(गीत २१)

गुंजरी रागे

जागल[2] योग अभेआस
अमुतञो बढलि आस ।
मोह आलस घनघोर
आ केतञो छाड़ल दन्दा ।
उप(ग ?)ल गेआँनक चन्दा ।
तम पिवि भए गे .... ।।
.... ।। ध्रुवं ।।
सिखेतञो सिखओल गुरु ।
पलटि जामल तरु ।।
राजञें पुनु पाओल गेआँन ।
भनइ विद्यापति अभिनव जयदेव ।
जागल प . न गेआँन ।।
राजा सिवसिंह रूपनराञेन ।
बुझि बुझाओव आन ।।

[योग का अभ्यास (पुनः) जग गया । अमृत की आशा बढ़ गई (?) भयानक मोह, आलस्य और द्वन्द्व—इन सबको (मैंने) छोड़ दिया । ज्ञान का चाँद उग आया है और अन्धकार को समाप्त कर .... । .... ।

---

१. उक्त श्लोक प्रति 'क' के अनुसार है । प्रति 'ख' में यह श्लोक अनेकत्र विकलांग है । किन्तु, प्रति 'क' में चतुर्थ पंक्ति के प्रारम्भ में 'लोलिष्यते' है, तो प्रति 'ख' में 'लोलिप्यते' । 'लोलिप्यते' लुप् धातु से तो हो ही सकता है, किन्तु अर्थ की दृष्टि से लिप् धातु का लेलिप्यते यहाँ अधिक संगत प्रतीत होता है । हस्तलिपि अस्पष्ट है

२. प्रति 'ख' का पाठ है, 'गेल', जो विपरीत अर्थ देता है । हस्तलिपि सर्वथा अस्पष्ट है । अर्थ की दृष्टि से यहाँ 'जागल' पाठ माना गया है ।

शिष्य से गुरु ने सीखा है। उलटा वृक्ष जनमा है। राजा ने पुनः ज्ञान प्राप्त कर लिया। अभिनव जयदेव विद्यापति कहते हैं कि ज्ञान जग गया। रूपनारायण राजा शिवसिंह स्वयं समझकर दूसरे को समझायेंगे।]

(गीत २२)

वररी रागे

लवये पाट न लवि नारी
नोनुमि देखिअ दिवस दुइ चारी ।
जहि उपजल तेहि काला
जाइते अपनुक धरिओ न भेला ।
बाउर तोहे बड़ भोरा
अबहु न दोस विचारह मोरा ॥
मायावध संसारे सबे ।
अरुझायल ब्रह्म गेआँने ॥
विद्यापति कवि गाया ।
ई धन यौवन पानिक छाया ॥

[.... ....। दो-चार दिन ही (अल्प समय के लिए ही) (नारियाँ) सुन्दर लगती हैं। जो (ज्ञान) उस समय में उत्पन्न हुआ, उसे (मैं) रख नहीं सका। अरी बावरियो ! तुम बड़ी भोली हो। अब मेरे दोषों का विचार मत करो। संसार में सभी माया से बद्ध हैं और ब्रह्मज्ञान उलझा हुआ है। विद्यापति कवि गाते हैं कि यह धन और यौवन जल की छाँह की तरह (चंचल) हैं।]

पुनर्म्महादेव्यः सर्व्वाः योगिनं भर्त्सयन्ति ।

[सारी महादेवियाँ पुनः योगी की भर्त्सना करती हैं।]

अरे महाराओ अआणं न पविए इव एआणं मिच्छा वयणेहिं ।

[हे महाराज ! इनकी मिथ्या बातों से हमें मत ....।]

राजा : पुनर्व्विहस्य [पुनः हँसकर]

अरे महादेव्यः परिवृत्य स्वगृहं व्रजत मोहं त्यक्त्वा च ।

[हे महादेवियो ! मोह छोड़कर लौटकर अपने घर जाओ।]

(गीत २३)

धनछी रागे

सुकृतिक बाट विचित्रतञो नारि ।
एतदिन वएरनि भेलि से हमारि ॥

अबे सबे दुर करहि मो राख।
की तोरि भ्रुकुटी कुटिल कठोर ॥ ध्रुवं ॥
चल चल पदुमाचल[1] निज गेह ।
योगि नए[2] लाग युवति जन नेह ॥
आसा छड़नें पुरुस स्वछन्द ।
बादर दुर कये उगि गेल चन्द ॥
भनइ विद्यापति सेवक किअओ ।
भरल वि (?) सन्तरि पारह से पाओ ॥

[सुकृति का मार्ग बड़ा ही विचित्र है। नारियाँ इतने दिनों तक मेरी वैरिन थीं। अब इन सबको अपने से दूर रखना है। क्यों तुम्हारी भ्रुकुटि कुटिल और कठोर है ? जाओ, अपने घर पद्माचल जाओ। योगी को युवतियों से स्नेह नहीं होता। आशा छोड़ने से ही पुरुष स्वच्छन्द होते हैं। बादल को हटाकर चाँद उग आया है। विद्यापति कहते हैं .... ।

(गीत २४)

कोराव

रु (वु ?) दा[3] हे अबे सुखे सुतह निचीते ।
वएरणि भेलि तोरि नीन्दे ॥
तोह हम बाल सिनेह ।
देवे कँएल बिसलेख ॥
तोह सनि पुनु हो.... .... ।
आइति न रहलि हमारि ॥
विद्यापति कवि बोध ।
एहि तहि परम विरोध ॥

[हे वुदा ! (बौद्धनाथ !) अब सुख से सोओ। तुम्हारी नींद ही वैरिन हो गई है। तुमपर मेरे पुत्र-स्नेह को दैव ने छुड़ा दिया था। तुम्हारे प्रति फिर से (मेरा स्नेह जगे)। यह मेरे अधीन नहीं रहा। विद्यापति कवि यह जानते हैं कि इसमें-उसमें बड़ा विरोध है।]

---

१. द्र० परिशिष्ट 'ख'।

२. प्रति 'ख' में 'मए' पाठ है। 'नए' का औचित्य स्पष्ट है।

३. प्रति 'ख' के सम्पादक ने गीत-सं० १६ में 'बौद्धनाथ' के 'बौ' के स्थान पर 'नौ' पाठ का संकेत दिया था, किन्तु यहाँ 'रुदा' के स्थान पर 'वुदा' पाठ सुझाया है।

अतो गोरक्षः राजनि नरेशं कुप्यति ।[1]

[इसके बाद गोरखनाथ राजा पर क्रुद्ध हो जाते हैं ।]

धिक् त्वां वनिताजनानुरागो न त्यजति । किं वक्तव्यं शृणु ।

[धिक्कार है तुम्हें ! अब भी (तुम्हें) नारी-प्रेम नहीं छोड़ रहा है। क्या कहा जाय ? सुनो ।]

(गीत २५)

गुञ्जरी रागे

विसरल गुरुमुखे वाच ।
ताहि परे अवर कि साच ॥
विसरल माणिक मोति ।
तिरिअ नयन के जोति ॥ ध्रुवं ॥
सवे तन्तु विसरल तोहे ।
अबहु न संभव मोहे ॥
रे मिननाथ .... ।
भनइ विद्यापति बोध ।
एहि ओहि परम विरोध ॥
रूपनराञेन जान ।
बुझि बुझाओव आन ॥

[गुरुमुख से निकली वाणी (तुम) भूल गये । उससे अधिक और क्या सत्य हो सकता है ? स्त्री-नयन की ज्योति के सामने तुम मोती-माणिक्य (ज्ञान) को भी भूल गये । तुम सारी बातें भूल गये । अब भी मोह सम्भव है ? हे मत्स्येन्द्रनाथ ! .... । विद्यापति कवि यह जानते हैं कि इसमें-उसमें (योग और भोग में) बहुत बड़ा विरोध है । रूपनारायण इसे जानते हैं और समझकर दूसरे को समझायेंगे ।]

पुनः पूर्व्वोक्तयथानुरोधं बालं बोधयति ।
राजा तमालिङ्गयति स्तौति च ।

[(राजा) पुनः पूर्वोक्त क्रम से बालक को समझाते हैं । राजा उसका आलिगन करते हैं और स्तुति करते हैं ।]

(गीत २६)

नवीत रागे

तञे मोर गोरख[2] प्रथमक सीस ।
सेवा अएलाहु देह(इ)[3] असीष ॥ ध्रुवं ॥

---

१. वाक्य अशुद्ध है ।

२. प्रति 'ख' का पाठ है, 'गोरष' ।

३. अर्थ की दृष्टि से यहाँ 'देइ' किया गया है ।

सब श्रा गुरु भगति पए जान।
तोहे मोर गोरख प्राण समान ।।
महादेवि देवी सबे होथु।
जनपद जन पूजा गए लेथु ।।
तोह हम मीलि कहाउ का-।
जाइ जोग श्रको परवान जे पाउ ।।
भनइ विद्यापति जोलिश्र हाथ।
सङ्गम लागहि मछेन्द्रनाथ ।।

[हे गोरखनाथ ! तुम मेरे प्रथम शिष्य हो। सेवा में आये हो। मैं तुम्हें आशीर्वाद देता हूँ। तुम्हारी गुरुभक्ति को मैं जानता हूँ। हे गोरखनाथ ! तुम मेरे प्राण के समान हो। महादेवियाँ और जितनी सारी देवियाँ हैं, वे सभी देश और देशवासियों का सत्कार प्राप्त करें। तुमसे मिलकर मैं क्या कहूँ। …………। विद्यापति कवि कहते हैं कि हाथ जोड़कर मत्स्येन्द्रनाथ (गोरखनाथ के) साथ लग गये।]

भरतवाक्यम्[1]

गङ्गेवाम्बुनिधेर्हिमाद्रिशिखरं विद्यागुरुं संगता
त्वत्तः स्नेहनिशान्धकारगहने लब्धः प्रभावो मया।
त्वन्मे शिष्यत्वमत्रपः ………… त्वन्मे त्वदीयं वपुः[2]
श्रीगोरक्ष चिरेण जीव जगति त्वत्कीर्त्तिरुज्जृम्भताम् ।।

[गंगा हिमालय पर्वत से निकलकर जैसे समुद्र में मिलती है, वैसे मैं विद्यागुरु से मिला। स्नेहरूपी रात्रि के घने अन्धकार में तुमसे मैंने प्रकाश प्राप्त किया। …………………………। हे गोरखनाथ ! तुम संसार में चिरकाल तक जीवित रहो और तुम्हारी कीर्त्ति सर्वत्र फैल जाय।]

इति निष्क्रान्ताः सर्व्वे। [सभी चले गये।]

इति सप्रक्रिय महाराजपण्डितवर श्रीमत्विद्यापतिसत्कविरचितं गोरक्षविजयनामः नाटकं समाप्तं।

शुभमस्तु ल० सं० ४९५ अग्रहणवदि ११ तिथौ ए दिने सुन्दरौलीग्रामे करणः श्रीमुरारिकण्ठस्यात्मज श्रीभगीरथेन लिखितं समाप्तं पुस्तकमिति।

१. प्रति 'क' में ही यह निर्देश है।
२. प्रति 'क' और प्रति 'ख' दोनों में 'उज्जृम्भणम्' ही पाठ है। प्रति 'क' के सम्पादक ने इसे 'उज्जृम्भताम्' किया है।

परिशिष्ट क

गोरक्षविजय की तथाकथित नान्दी

........नमः

हर्षादम्भोजजन्मप्रभृतिदिविषदां संसदि प्रीतिमत्यां
शश्वन्मौलौ[1] पुरारेर्दुहितृपरिणये साक्षतं चुम्ब्यमाने।
तद्वक्त्रं मौलिवक्त्रे मिलितमिदं भृशं वीक्ष्य चन्द्रः सहासो
दृष्ट्वा तद्वृत्तमाशु स्मितसुभगमुखः पातु वश्चन्द्रचूडः[2]॥

अपि च

वक्त्राम्भोरुहि विस्मिताः स्तवकिता वक्षोरुहि स्फालिताः
श्रोणीसीमनि गुम्फिताश्चरणयोरक्ष्णोः पुनर्व्विस्तृताः।
पार्वत्याः प्रतिगात्रचित्रगतयस्तन्वन्तु भद्राणि वो
विद्धस्यान्तिकपुष्पसायकशरैरीशस्य दृग्भङ्गयः॥

---

१. यहाँ प्रति 'क' का पाठ है, 'गौर्या मौलौ'। प्रति 'ख' के सम्पादक ने यह टिप्पणी दी है कि यहाँ हस्तलिपि में 'श्वश्वान्' पाठ था, जिसे उन्होंने शुद्ध कर 'शश्वन्' कर दिया है। यह उल्लेखनीय है कि उन्हीं के द्वारा सम्पादित 'धूर्त्तसमागम' की उक्त नान्दी में 'श्वश्वान्' पाठ ही दिया हुआ है।

२. प्रति 'क' में यहाँ 'पञ्चवक्त्रः' पाठ है। 'धूर्त्तसमागम' की उक्त नान्दी में भी 'पञ्चवक्त्रः' ही है।

परिशिष्ट ख

'गोरक्षविजय' में प्रयुक्त कतिपय विशिष्ट शब्द

मुद्रा-अभरण :

दोनों ही शब्द गीत-सं० ३ की निम्नलिखित पंक्ति में आये हैं :

'राखा मुद्रा अभरण सङ्गा हाथ ।'

यह गोरखनाथ के योगी-वेश का वर्णन है। राखा तो भस्म है ही। विभिन्न साधना-पद्धतियों में मुद्रा के विभिन्न अर्थ हैं। नाथ-सम्प्रदाय में मुद्रा का अर्थ है कर्णाभूषण, जो मिट्टी, काँच, धातु अथवा स्फटिक आदि का होता था। इसे 'दरसनी' भी कहते हैं। नाथ-पन्थी योगी इसे कान में छेद करके पहनते थे। इसलिए, उन्हें 'कनफटा' भी कहा जाता था। **डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी** ने नाथपन्थी योगियों के वेश का वर्णन करते हुए लिखा है :

"मेखला, शृंगी, सेली, गूदरी, खप्पर, कर्णमुद्रा, बघम्बर, झोला आदि चिह्न ये लोग धारण करते हैं।" यदि 'मुद्रा-अभरण' को एक शब्द माना जाय, तो यह मानना पड़ेगा कि उपर्युक्त उपकरणों में से 'गोरक्षविजय' में केवल एक का उल्लेख हुआ है। किन्तु, वैसी स्थिति में 'सङ्गा हाथ' का कोई अर्थ ही नहीं हो सकेगा। इसलिए, 'अभरण' को पृथक् शब्द मानकर उसका अर्थ उपकरण करना पड़ेगा और हाथ में रखने के लिए कमण्डलु अथवा सोटा की कल्पना करनी पड़ेगी। हस्तलिपि का वह स्थल जहाँ उपर्युक्त पंक्ति है, इतना अस्पष्ट है कि 'सङ्गा' के बदले 'सिङ्गा' पढ़ा जा सकता है। सिंगा, सिंगी, शृंगी हरिण के सींग का बना हुआ बाजा होता था, जिसे नाथपन्थी योगी साथ रखते थे। किन्तु, वे उसे जनेऊ में लटकाकर रखते थे।

धुरन्धरदेव :

गीत-सं० २० की निम्नलिखित पंक्ति में यह शब्द आया है :

'प्रहरी थिकह धुरन्धर देव ।'

महादेवियाँ राजा से कहती हैं कि धुरन्धरदेव, अर्थात् शिव तुम्हारे रक्षक हैं। **मोनियर विलियम्स** (A Sanskrit-English-Dictionary) के अनुसार यह शब्द शिव के अर्थ में पद्मपुराणान्तर्गत शिवगीता में आया है।

पदुमाचल :

गीत-सं० २३ की निम्नलिखित पंक्ति में यह शब्द आया है :

'चल चल पदुमाचल निज गेह ।'

यह रानियों से राजा की उक्ति है। पदुमाचल एक पद है, जिसका मूल संस्कृत-रूप 'पद्माचल' हो सकता है। यहाँ प्रसंग के आधार पर पद्माचल का अर्थ अन्तःपुर का भवन-

विशेष ही किया जा सकता है। यह सर्वथा अनुमान पर ही आधृत है। 'पदुमा' और 'चल' के रूप में इसे दो टुकड़े करने पर 'पदुमा' को पटरानी के लिए प्रयुक्त माना जा सकता है।

पाटनगिरि :

यह शब्द गीत-सं० १८ की निम्नलिखित पंक्तियों में आया है :

> 'गुरु हे जे छल पाटनगिरि,
> से आवे नदिया गम्भीरी।'

सम्भव है, 'पाटनगिरि' राजधानी पाटन के आसपास का पर्वत-शिखर हो। उपर्युक्त पंक्तियों में वर्णित प्राकृतिक परिवर्त्तन की बात किसी स्थानीय भौगोलिक घटना की ओर संकेत करती है अथवा सामान्य परिवर्त्तन की ओर, यह अनुमान का ही विषय है।

सन्दर्भ-ग्रन्थसूची

संस्कृत-हिन्दी-मैथिली-बंगला

१. अनर्घराघवम्

२. अभिज्ञानशाकुन्तल

३. उमापति उपाध्याय और नवपारिजातमंगल : सं० डॉ० बजरंग वर्मा, सन् १९६३ ई० ।

४. उमापति का पारिजातहरण : सं० कृष्णनन्दन पीयूष, द्वि० सं०, सन् १९६२ ई० ।

५. गीतगोविन्द

६. गोरक्षविजय : सं० डॉ० उमेश मिश्र और डॉ० जयकान्त मिश्र, सन् १९६१ ई० ।

७. थारू-लोकगीत : सं० प्रफुल्लकुमार सिंह 'मौन', सन् १९६८ ई० ।

८. धूर्त्तसमागम

९. नाथ-सम्प्रदाय : डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, द्वि० सं०, सन् १९६६ ई० ।

१०. नेपाल : देश और संस्कृति : हरिनन्दन ठाकुर, सन् १९६९ ई० ।

११. पारिजातहरण : सं० चेतनाथ शर्मा, सन् १९५९ ई० ।

१२. प्राचीन भाषानाटक : सं० जगदीशचन्द्र माथुर और डॉ० दशरथ ओझा, सन् १९७५ ई० ।

१३. बाँगला साहित्येर इतिहास (प्रथम खण्ड) : डॉ० सुकुमार सेन, द्वि० सं०, सन् १९४८ ई० ।

१४. महाभारत

१५. मालविकाग्निमित्र

१६. मेघदूत

१७. मैथिली-धूर्त्तसमागम : सं० डॉ० जयकान्त मिश्र, सन् १९६० ई० ।

१८. मैथिली-नाटक : उद्भव और विकास : डॉ० प्रतापनारायण झा, सन् १९७३ ई० ।

१९. शृंगारहाट (चतुर्भाणी) : सं० डॉ० मोतीचन्द्र और डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, सन् १९५९ ई० ।

अँगरेजी

1. A Descriptive Catalogue of Sanskrit Manuscripts of Orissa : Ed. K.N. Mahapatra.

2. A History of Maithili Literature (Two vols.) : Ed. Dr. Jaykant Mishra, 1949.

3. **Grammatik der Prakrit Sprachen** : Richard Pischel, **Translated** into Hindi by Dr. Hemachandra Joshi, 1958.

4. **History of Sanskrit Literature** : S.K. De, 1947.

5. **Studies in the Geography of Ancient and Medieval India** : **D.C.** Sircar, 1971.

6. **The Sanskrit Drama** : A.B. Keith, 1924.

पत्रिका

१. **अभिव्यंजना** : सं० मायानन्द मिश्र, सहरसा ।